अकविता की संवेदना

एम. फिल. (हिंदी) उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध–प्रबंध

शोध निर्देशक
डॉ0 रमण प्रसाद सिन्हा

शोधार्थी
सुशील कुमार तिवारी

भारतीय भाषा केंद्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली–110067

2007

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature & Culture Studies
New Delhi-110067, INDIA

Dated: 11/05/ 2007

DECLARATION

I declare, that the work done in this dissertation entitled ***"AKAVITA KI SAMVEDANA"*** by me is an original work and has not been previously submitted for any other degree in this or any other University / Institution.

SUSHIL KUMAR TIWARI
(Research Scholar)

DR. RAMAN PRASAD SINHA
(Supervisor)
Centre of Indian Languages,
School of Language, Literature
and Culture Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

PROF. PURUSHOTTAM AGRAWAL
(Chairperson)
Centre of Indian Languages,
School of Language, Literature and
Culture Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

GRAM: JAYENU, TEL.: (91-011) 26717676, 26717557 Extn.: 4217, (D) 26704217 Fax: (91-011) 26717603, 26717586

स्वर्गीय दादाजी को समर्पित
जिनकी स्मृतियाँ ही पाथेय हैं

अनुक्रमणिका

भूमिका I-II

प्रथम अध्याय : अकविता का परिप्रेक्ष्य 1–42

(क) अकविता का पश्चिमी परिप्रेक्ष्य

(ख) अकविता का भारतीय परिप्रेक्ष्य

द्वितीय अध्याय : अकविता का उद्‌भव एवं विकास 43–74

तृतीय अध्याय : अकविता की संवेदना 75–129

(क) अराजकता एवं परंपरा–निषेध

(ख) लोकतन्त्र–विरोध

(ग) यौन–विद्रोह

(घ) अलगाव–बोध

(ड.) काव्य अभिजात्य का निषेध

उपसंहार 130–134

संदर्भ ग्रंथ सूची 135–142

भूमिका

हिन्दी साहित्य में मेरी रुचि अध्ययन के शुरुआती दिनों से ही रही है। कविताएँ मुझे विशेष रुप से आकर्षित करती रहीं हैं। इस आकर्षण के परिणामस्वरुप लगातार कविताएँ पढ़ते रहना मेरा प्रिय शगल रहा है। इण्टरमीडिएट की पढ़ाई के दौरान अपने पाठ्यक्रम से सम्बन्धित कुछ पुस्तकों को खोजते हुए उसी दुकान के कोने में रैक पर धूल फांकती हुई एक पुस्तक मुझे दिखायी दी थी नाम था 'संसद से सड़क तक'। नाम ने मुझे सहसा आकर्षित कर लिया और विज्ञान वर्ग के विद्यार्थी होने के बावजूद मैंने वह किताब खरीद ली थी। मुझे अच्छी तरह याद है कि परीक्षा का समय चल रहा था उसके बावजूद मैंने उस किताब को पाठ्यक्रम की किताबों से पहले पढ़ना शुरु किया था और एक बैठक में उसे पढ़ कर ही दम लिया था। उस पुस्तक में संकलित कविताओं ने मुझे गहरे स्तर पर आंदोलित किया। बाद में स्नातक में जब मैंने अध्ययन के लिए कला वर्ग को चुना तो हिंदी साहित्य को एक विषय के रुप में रखा और तभी यह निश्चित किया कि इस विषय में उच्चस्तरीय शिक्षा प्राप्त करनी है।

इस दौरान मैं लगातार अपने अध्ययन के क्रम में साठोत्तरी कविता से प्रभावित होता चला गया। उसके काव्यलोक ने मेरे अंदर एक अजीब प्रकार का अलगाव पैदा कर दिया था। मैं समझ नहीं पाता था कि आखिर ये कवि इस प्रकार के अराजक प्रतिकार द्वारा सिद्ध क्या करना चाहते हैं? और उनके इस मोहभंग का वास्तविक कारण क्या है? इस उधेड़बुन और जिज्ञासा ने मुझे इन कविताओं के और नजदीक खींचा, मैं उनको बार–बार पढ़ता और हमेशा एक गहरी टीस मेरे अंदर पैदा होती, मैं उन कविताओं के साथ खुद को सहज महसूस नहीं कर पाता। तभी मैंने निश्चय किया था कि अगर कभी शोध करने का मौका मिला तो साठोत्तरी कविता पर ही करुँगा।

यही कारण है कि जब एम. फिल के लघु शोध प्रबन्ध के लिए विषय चुनने का समय आया तो मेरा पहला ध्यान इस ओर ही गया। अकविता चूँकि साठोत्तरी कविता के प्रमुख आंदोलनों में से रही है इसलिए मैंने उसी पर शोध करने का निश्चय किया। शोध की प्रक्रिया के दौरान जब भी मुझे किसी भी प्रकार की समस्या आयी, आदरणीय गुरुदेव श्री रमण प्रसाद सिन्हा जी ने मुझे अपना अमूल्य सहयोग प्रदान किया। उन्होंने अकविता को नए–नए कोणों से देखने के लिए मुझमें जिज्ञासा पैदा की। उसकी अराजक काव्य–भाषा ने जब–जब मुझे विचलित किया, उन्होंने मेरा हौसला बढ़ाया और मेरे अंतर्जगत् को अपने अमूल्य सुझावों द्वारा उससे जोड़ा। उनके इस

प्रयास के फलस्वरुप मेरा इस कविता के लोक के साथ बना अलगाव समाप्त हुआ और मेरी तादात्म्यहीनता की समस्या गहरे जुड़ाव में परिवर्तित हो गयी। गुरु का कर्ज तो कभी नहीं चुकाया जा सकता, परंतु अगर मैंने अपने शोध में इस विषय के साथ न्याय किया हो तो मैं समझूँगा कि मैंने उनकी उम्मीदों को पूरा किया है। अगर आदरणीय गुरुदेव का सहयोग न मिलता तो अकविता मेरे लिए टेढ़ी खीर थी।

मेरा लघु शोध प्रबन्ध तीन अध्यायों में विभाजित है। पहले अध्याय 'अकविता का परिप्रेक्ष्य' में अकविता को व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखने की कोशिश की गयी है। इस क्रम में इस बात पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है कि किस प्रकार पश्चिमी एवं भारतीय कविता के एक विशिष्ट रुप ने अकविता के निर्माण में अपनी भूमिका निभायी है। दूसरे अध्याय 'अकविता का उद्भव एवं विकास ' में इस बात पर प्रकाश डाला गया है कि अकविता का उद्भव किन स्थितियों में हुआ तथा उसके विकास का स्वरुप कैसा रहा? कारण क्या रहे? तीसरे अध्याय 'अकविता की संवेदना में' अकविता के काव्य संसार को विश्लेषित किया गया है। उस उद्देश्य हेतु उसे अराजकता एवं परंपरा–निषेध, लोकतन्त्र–विरोध, यौन–विद्रोह, अलगाव बोध तथा काव्य अभिजात्य का निषेध नामक पांच–उपअध्यायों में बाँटकर उसकी संवेदना के स्वरुप को स्पष्ट करने की कोशिश की गयी है। इस समस्त प्रक्रिया में अकविता को उसकी सम्पूर्ण विशेषताओं एवं अंतर्विरोधों के साथ समझने का मेरा प्रयास रहा है।

इस सम्पूर्ण कार्य के दौरान मुझे जिन लोगों एवं संस्थाओं का सहयोग मिला है मैं उनके प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय

नयी दिल्ली

सुशील कुमार तिवारी

प्रथम अध्याय

अकविता का परिप्रेक्ष्य

(क) अकविता का पश्चिमी परिप्रेक्ष्य

(ख) अकविता का भारतीय परिप्रेक्ष्य

एक काव्य आंदोलन के रूप में अकविता अपने समय के ऐतिहासिक दबावों की रचनात्मक प्रतिक्रिया थी। स्वंतत्रता प्राप्ति के बाद सम्पूर्ण भारत ने एक सुखी–संपन्न एवं सुरक्षित भविष्य का सपना देखा था और उस सपने को पूरा करने के लिए जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में एक यात्रा शुरू की थी। यह यात्रा आशा एवं उमंग से परिपूर्ण थी अप्रैल 1953 में जवाहरलाल नेहरू ने घोषणा की थी – "मैं तब तक आराम से नहीं बैठ सकता जब तक कि इस देश के प्रत्येक व्यक्ति, स्त्री और बच्चे को एक उचित व्यवहार और न्यूनतम जीवन स्तर की सुविधा प्राप्त नहीं हो जाती – एक राष्ट्र को जाँचने के लिए पाँच छः वर्ष की अवधि बहुत छोटी होती है। आप दस साल और इंतजार कीजिए और आप पायेंगे कि हमारी योजनाएँ इस देश का नजारा पूरी तरह ऐसी बदल देंगी कि पूरी दुनिया भौंचक्की रह जाएगी।"[1]

इस सपने को पूरा करने के लिए नेहरू ने लोकतांत्रिक समाजवाद के ढांचे को अपनाया तथा सामुदायिक विकास कार्यक्रम, पंचायती राज एवं पंचवर्षीय योजनाओं के जरिए धन एवं अधिकार के व्यापक विकेन्द्रीकरण द्वारा एक सुन्दर भारत के निर्माण का अभियान आरंभ किया। शुरू–शुरू में यह अभियान कुछ सफलता प्राप्त करता प्रतीत हुआ परन्तु समय के साथ–साथ विकास की गति अवरूद्ध होती गयी तथा नौकरशाही एवं सत्ता के मकड़जाल में फंसकर सम्पूर्ण व्यवस्था भ्रष्टाचार में डूबती चली गयी। पंचायती राज को राज्य सरकारों द्वारा कोई वास्तविक अधिकार प्रदान नहीं किया गया, बल्कि उनके कार्य एवं शक्ति पर अंकुश लगाकर और धन का अभाव पैदा कर उन्हें मर जाने के लिए मजबूर कर दिया गया। नौकरशाही ने भी स्थानीय ग्रामीण प्रशासन पर अपनी पकड़ ढीली नहीं होने दी। पंचायतों का राजनीतिकरण हो गया और ग्रामीण विकास के अपने प्राथमिक एवं सर्वप्रमुख कार्य को छोड़कर ये गाँवों में सत्ता के दबाव गुट के रूप में कार्य करने लगे। परिणामस्वरूप ग्रामीण प्रशासन का जनवादी विकेन्द्रीकरण सफल नही हो सका।

नेहरू के लोकतांत्रिक समाजवाद के ढांचे की आलोचना करते हुए विपिन चंद्रा ने लिखा है "सामुदायिक विकास के लाभ, नई कृषि सुविधाएं और विस्तार सेवाएं मूलरूप से धनी और पूंजीवादी किसानों द्वारा हथिया ली गईं। इन्हीं लोगों ने पंचायती राज संस्था पर भी प्रभुत्व जमा लिया। सामुदायिक विकास कार्यक्रम पंचायती राज और सहकारी आंदोलन की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि इसने ग्रामीण समाज के अंदर वर्ग विभाजन को नजर अंदाज किया, जहाँ आधे से ज्यादा लोग भूमिहीन और इसलिए

बिल्कुल शक्तिहीन थे। गाँव पर समृद्ध, मध्यम और पूंजीवादी किसानों का सामाजिक और आर्थिक वर्चस्व था और न तो नौकरशाह और न ही समृद्ध ग्रामीण वर्ग जनता की भागीदारी और सामाजिक रूपांतरण के अग्रदूत बन सकते थे। यह एक और ऐसा क्षेत्र था जिसमें नेहरू युग की भूमि सुधार की कमजोरियाँ उजागर हो गयीं।"[2]

यह घरेलू आर्थिक एवं सामाजिक मोर्चे पर नेहरू युग की बड़ी असफलता थी। इसी दौरान 1962 के भारत–चीन युद्ध ने समस्त देश को झकझोर कर रख दिया। गुटनिरपेक्षता की अवधारणा को एक साम्यवादी देश के हमले ने तार–तार करके रख दिया और हिन्दी–चीनी भाई–भाई के नेहरूवियन गुब्बारे की हवा निकाल दी। एकतरफ देश घरेलू मोर्चे पर असफलता एवं असंतुलन से जूझ रहा था तभी विदेशी सत्ता के हमले ने नेहरू युग की उस यूटोपियन आशावादिता पर निर्णायक प्रहार किया जिसने व्यवस्था एवं विचारधारा में लोगों की आस्था बनाए रखी थी। इस प्रकार घरेलू एवं विदेशी दोनों मोर्चे पर नेहरूवियन मॉडल की असफलता ने व्यवस्था से लोगों का मोहभंग कर दिया। इस मोहभंग के फलस्वरूप उन समस्त मूल्यों के प्रति एक प्रकार के नकार का भाव पैदा हो गया जो नेहरू युग की मूलभूत शर्त थे। लोकतांत्रिक–समाजवाद के स्वप्निल ढांचे की असफलता एवं विचारधारा आधारित राजनीति के जर्जर होते स्वरूप से मूल्यहीनता का वैचारिक खतरा पैदा हो गया जिसे गुटनिरपेक्षता की असफलता एवं साम्यवादी चीन के सैनिक अतिचार ने और बढ़ाने का काम किया।

इस मूल्यहीन परिवेश ने एक ऐसे निराशावादी एवं अराजक परिवेश का सृजन किया जिससे ग्रस्त होकर साठोत्तरी युवा विद्रोही हो गया। उसने उन समस्त पारंपरिक मूल्यों के खिलाफ अराजक वक्तव्य जारी किए जो उसके अनुसार इस चरम उपयोगितावादी एवं मूल्यहीन परिवेश के लिए जिम्मेदार थे। हिन्दी का अकविता आंदोलन इसका सर्वप्रमुख उदाहरण है। लोकतंत्र, गुटनिरपेक्षता की नीति, पंचायती राज, पंचवर्षीय योजनाओं, सहकारी योजनाओं, नेहरूवियन समाजवाद, साम्यवाद बनाम पूंजीवाद की वैचारिक बहस, सत्ता के विकेन्द्रीकरण का यूटोपियन नारा और इन सबके फलस्वरूप आम आदमी तक विकास पहुंचाने के तत्कालीन व्यवस्था द्वारा किए गये वायदों की असफलता पर उसने पलटकर जोरदार प्रत्याक्रमण किया। इन मूल्यों को उसने सिरे से नकारा। यद्यपि उसके पास वैकल्पिक मूल्य न थे परन्तु उसे उनको खोजने से ज्यादा चिंता इन प्रचलित मूल्यों को खत्म करने की थी। इसके बाद वह उस मूल्यहीन परिवेश के लिए भी तैयार था जिसके लिए कोई वैकल्पिक वैचारिक तैयारी

उसके पास न थी। यह पूर्णरूपेण नेहरू युग के यूटोपियन आदर्शवादी मूल्यों की यथार्थ के खुरदुरे धरातल पर बेबस एवं बेतरतीब शल्यक्रिया थी जो एब्सर्ड होने का खतरा उठाने को भी तैयार थी। यही कारण था कि पारंपरिक मूल्यों का विरोध करते–करते एक प्रकार की मूल्यहीनता एवं विचारधारा–विपन्नता की स्थिति आ गयी।

इस दौरान अमरीका के प्रसिद्ध बीट कवि एलेन गिंसबर्ग का भारत आगमन हुआ। गिंसबर्ग ने जो कि स्वाभाव से ही चरम विद्रोही कवि था तथा समाज में प्रचलित किसी भी पारंपरिक टैबू को मानने से इंकार करता था भारत के कई भागों का भ्रमण किया। इस दौरान वह मुख्य रूप से कलकत्ता, पटना एवं बनारस रहा तथा बंग्ला के भूखी पीढ़ी एवं हिन्दी की अकविता के कुछ कवियों से उसका व्यक्तिगत रूप से परिचय हुआ। गिंसबर्ग की बोहेमियन एवं अराजक जीवनचर्या तथा उसके उत्तेजक विचारों से ये कवि काफी प्रभावित हुए जो स्पष्ट रूप से इनकी कविताओं में परिलक्षित होता है। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि शमशेर बहादुर सिंह ने 1962 में एक कविता लिखी 'गिंसबर्ग के लिए' जिसमें उन्होंने लिखा "हमारे बीच कोई सीमारेखा नहीं"[3] स्पष्ट है कि वे स्वीकार करते थे कि जो चिंताएँ गिंसबर्ग की हैं वही आज के भारतीय कवियों की भी हैं। जिस मूल्यहीनता एवं अनास्था के दर्शन से वह आक्रान्त है तथा जिस प्रकार के अराजक एवं अनुत्तरदायी परिवेश ने उसके मानसिक एवं कायिक संतुलन को संक्रमित किया है कुछ उसी प्रकार की स्थिति आज के भारतीय कवियों की भी है।

जब बंगाल के भूखी पीढ़ी के कवियों को सामाजिक मर्यादा भंग करने के आरोप में गिरफ्तार किया गया और उन पर मुकदमें चलाए गए तो उनको सही साबित करते हुए तथा उनसे सहानुभूति दर्शाते हुए गिंसबर्ग ने भूखी पीढ़ी के प्रमुख कवि मलय राय चौधुरी को एक पत्र भी लिखा था जिसमें उसने उन्हें अपने कुछ भारतीय मित्रों का हवाला दिया था जो कि उनकी मदद कर सकते थे। बंग्ला के भूखी पीढ़ी के कवियों का हिन्दी के कुछ अकवितावादी कवियों से व्यक्तिगत सम्बन्ध भी था। राजकमल चौधरी तो बकायदा बहुत दिनों तक उसी दौरान बंगाल भी रहे थे जिस दौरान भूखी पीढ़ी का काव्य आंदोलन जोरों पर था। उन्होंने जनवरी 1965 के मराल के बंग्ला नवलेखन विशेषांक का सम्पादन कंचन कुमार के प्रच्छन्न नाम से किया था।[4] इस अंक के सम्पादकीय में उन्होंने भूखी पीढ़ी के कवियों की कविताओं पर सहानुभूतिपूर्वक विचार किया था। राजकमल ने 17 फरवरी 1965 के धर्मयुग में एक लम्बा लेख लिखा था लेकिन 'यह भूखी पीढ़ी है क्या?'[5] इस लेख में उन्होंने भूखी पीढ़ी का परिचय देने के

साथ–साथ उस काव्य आंदोलन के कुछ कवियों की कविताओं का हिन्दी में अनुवाद भी किया था।

सातवें दशक के दौरान गिंसबर्ग, भूखी पीढ़ी के कवियों एवं अकवितावादी कवियों के बीच आपसी मुलाकातें होती रहीं। यह मुलाकातें सिर्फ हालचाल से निकलकर गंभीर वाद–विवादों तक भी पहुँची और इनके जरिए हिन्दी की अकविता ने संवेदना एवं शिल्प दोनों प्राप्त किए। परन्तु इसने इनका उपयोग अपनी प्रकृति एवं परिवेश के अनुसार किया, अंधानुकरण के स्तर पर नहीं। इन तीनों के पारस्परिक वैचारिक संक्रमण पर विचार करते हुए राजकमल चौधरी ने इब्बार रब्बी को दिए एक साक्षात्कार में स्वीकार किया "अमरीका में बरोज, गिंसबर्ग, करूआक के नेतृत्व में नई पीढ़ी के कवियों और बुद्धिजीवियों ने एस्टेब्लिशमेंट (प्रभुसत्ता?) के खिलाफ आंदोलन शुरू किया। बंगाल में अपनी सीमाओं के साथ यही काम मलय राय चौधुरी और उनके साथियों ने आरंभ किया है.... हिन्दी की 'अकविता' कवि नागरिक द्वारा अथवा नागरिक कवि द्वारा काव्य विषयों और काव्याभिव्यक्ति के नये माध्यमों और प्रवाहों को अपनी कविता में प्राप्त करने की चेष्टा है। मैं राजकमल चौधरी, बहुत सारी बातों में बहुत दूर तक इन लोगों के साथ हूँ, लेकिन इन लोगों में नहीं हूँ। मेरी निजी शारीरिक सीमाएँ हैं, जो मुझे किसी भी वाद–विवाद, भीड़, जुलूस, गोष्ठी, आंदोलन और संस्था सम्मेलन में शामिल होने से तो नहीं रोकती लेकिन सदस्य होने से रोक देती हैं। सदस्य मैं नहीं होता और सदस्य हुए बगैर भी यह मानता हूँ कि अभी अमरीका में एलेन गिंसबर्ग सबसे बड़ा कवि है, और भूखी पीढ़ी वालों ने बंग्ला साहित्य के सम्पूर्ण 'व्यवसायिक' स्वरूप को तोड़–फोड़ दिया है, और अकविता निश्चय ही 'नई कविता' से आगे चले जाने की कवि चेष्टा है।"[6] स्पष्ट है कि बीट पीढ़ी अकविता एवं भूखी पीढ़ी इस तीनों में सहसम्बन्ध अवश्य था। परन्तु यह सिर्फ प्रभाव तक ही सीमित था अंधानुकरण के स्तर पर नहीं। इनसे प्रभावित होते हुए भी अकविता में एक मौलिक संवेदना एवं शिल्प के दिग्दर्शन होते हैं।

(क) अकविता का पश्चिमी परिप्रेक्ष्य : हिन्दी की अकविता पर अमरीका में चले बीट काव्य आंदोलन का गंभीर प्रभाव है। द्वितीय विश्व युद्ध के फलस्वरूप हुए भयानक नर संहार तथा परमाणु बम के उपयोग ने वैज्ञानिक सभ्यता के मानवीय दावों को खोखला कर दिया। जिस विज्ञान ने प्रगति एवं समृद्धि के स्वप्न दिखाए थे उसने मानवीय नियति को विनाश के दर्शन कराए। इसके फलस्वरूप वैज्ञानिकता एवं बुद्धिवाद के चरम आधुनिक नारों से बहुसंख्यक लोगों का मोहभंग हो गया। इसी दौरान कोरिया

संकट तथा शीतयुद्ध के वैश्विक परिप्रेक्ष्य के फलस्वरूप अमरीकी समाज में एक प्रकार की अनिश्चितता का माहौल व्याप्त था। सहसा सुरक्षित भविष्य का स्वप्न मूल्यहीन वर्तमान के फिसलन भरे रास्तों पर लुढ़कने लगा।

इन सबके बीच अमरीकी सभ्यता एवं संस्कृति में मानवीय मूल्यों का ह्रास बढ़ता जा रहा था। पूंजी, बाजार एवं विज्ञापन के बीच डूबी सम्पूर्ण अमरीकी व्यवस्था चरम भौतिक लक्ष्यों की प्राप्ति की तरफ इस प्रकार अभिमुख हुई कि नैतिकता का स्थान उपयोगिता ने ले लिया। नीतियों का क्रियान्वयन राष्ट्रीय हितों के नाम पर इस प्रकार किया गया कि व्यक्तिगत अस्मिता एवं मूल्य या तो खो गए या टूट–फूट कर अव्यवस्थित हो गए। अमरीकी व्यवस्था के इस लोकतांत्रिक पूंजीवादी ढांचे के नवीन रूप ने समानता, स्वतंत्रता एवं बंधुत्व के दर्शन को परे धकेल नव–साम्राज्यवादी एवं नव–उपनिवेशवादी स्वरूप को अपना लिया जिसका उदाहरण सम्पूर्ण विश्व में उसके अनैतिक हस्तक्षेप के रूप में सामने आने लगा। शीतयुद्ध के फलस्वरूप बने विभिन्न दबाव गुटों से सम्पूर्ण विश्व में आशंका एवं अनिश्चितता का माहौल व्याप्त था।

अमरीकी बीट काव्यांदोलन तत्कालीन अमरीकी समाज के इन्हीं विरोधाभासों एवं विसंगतियों के बीच से उपजा। उसने उन समस्त पारंपरिक प्रतिमानों को खुलकर चुनौती दी जो समाज को इस अमानवीय परिस्थिति तक ले जाने के लिए जिम्मेदार थे। इन युवा रचनाकारों का मानना था कि पारंपरिक अमरीकी साहित्य इन व्यवस्थाजन्य विसंगतियों एवं विद्रूपताओं को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने एवं उनसे सीधी टक्कर लेने में असमर्थ है फलस्वरूप इन्होंने नवीन साहित्यिक प्रतिमानों की रचना पर बल दिया। कविता इनके लिए अप्रासंगिक विधि–निषेधों के खिलाफ खुली रचनात्मक कार्यवाही थी। यह शीतयुद्ध के दौरान के पारंपरिक अमरीकी सांस्कृतिक मूल्यों पर एक विद्रोही प्रश्नचिन्ह था। बीट कवि वैयक्तिक स्वतंत्रता के आदर्शवादी अमरीकी स्वप्न को उसके चरम परीक्षण तक ले लाने को कटिबद्ध थे। इन्होंने अपने देश में व्याप्त सामाजिक स्वीकृति, राजनैतिक दमन एवं प्रचलित भौतिकवाद के खिलाफ विद्रोह किया तथा अपारंपरिक सौंदर्यपरक, लैंगिक एवं अध्यात्मिक मूल्यों की हिमायत की।

बीट जेनेरेशन का प्रारंभिक प्रकाशित लेखन मुख्यतः आत्मकथात्मक उपन्यासों तक ही सीमित था जिसमें प्रमुख है – जन क्लेलॉन होम्स का गो (1952), विलियम बरो का जन्की (1953), तथा जेक केरूआक का 'जैज आफ बीट जेनरेशन (1953)। 1957 में एलेन गिंसबर्ग की कविता 'हाउल' तथा जैक केरूआक के उपन्यास

'आन दि रोंड' के प्रकाशन के साथ बीट लेखन ने व्यापक रूप से लोगों को आकर्षित करना शुरू किया। गिंसबर्ग, केरूआक, बरो तथा होम्स की मित्रता न्यूयार्क में 1940 के दशक में ही हो चुकी थी। गिंसबर्ग के अनुसार उन्होंने सर्वप्रथम बीट शब्द टाइम स्क्वेयर के एक घुमक्कड़ हरबर्ट हंके से 1944 में सुना था। गिंसबर्ग ने उस शब्द का अर्थ किया–थककर चूर, विश्व में सबसे नीचे, ऊपर या बाहर देखना, अनिद्रा से परेशान, चौड़ी आँखों वाला, सूक्ष्म दृष्टि वाला (पारखी), समाज हारा बहिष्कृत, तुम्हारा अपना, गली–गली आदि।[7] केरूआक के अनुसार 1948 में वह और होम्स बैठकर खोयी हुई पीढ़ी का एवं परवर्ती अस्तित्वबोध का अर्थ खोजने की कोशिश कर रहे थे और उसने कहा "तुम्हें पता है यह वास्तव में एक बीट पीढ़ी है और वह उछलकर बोल, यही–यही ठीक है।"[8]

होम्स के लिए बीट "जेनरेशन 'वर्तमान छवि का वह उच्छेदक आकर्षण है जिसमें शायद एक संकल्पना छिपी हुई है। जिससे यह राज भी जुड़ा हुआ है कि उसे कठिनाई से परिभाषित किया जा सकता है। यह एक दृष्टि थी, एक विचार या प्रत्यय नहीं।"[9] गिंसबर्ग के अनुसार बीटनेस था "समाज के द्वारा बनाए गए अच्छे व बुरे प्रतिमानों से इतर समाज को अन्दर से देखना ..... द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषिका, बंधक कैम्पों, एटम बम के बाद अमरीकी सामान्य स्थिति चाहते थे, लेकिन हमने महसूस किया कि यह मात्र बाहरी दिखावा था।"[10] स्पष्ट है कि ये कवि इन असामान्य स्थितियों में अपने को बँधा महसूस कर रहे थे, फलस्वरूप सामान्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने बीट का विशिष्ट मार्ग अपनाया। विलार्ड थोर्प के अनुसार बीट के तीन अर्थ हैं "पहला यह उस सबसे निचले स्तर की ओर संकेत करता है जिनमें कवि उन पारंपरिक उपादानों द्वारा रहा हैं जिनसे वह घृणा करता है। दूसरा अर्थ है पल्स जो जाज संगीत की तरह की एक लय है जो इन कवियों के अनुसार उनके समय की सच्ची लय है और तीसरा अर्थ है जैसा कि केरूआक कहता है –बीटीट्यूड (आघात की आदत)।"[11]

गिंसबर्ग ने अपनी सबसे प्रसिद्ध रचना हाउल (howl) अगस्त 1955 में लिखी। दो महीने बाद न्यूयार्क की सिक्स गैलरी में स्नाइडर, माइकल मेक्ल्यूर, फिलिप लेमेन्टिया, फिलिप वेलेन तथा रेक्सोर्थ के साथ मिलकर गिंसबर्ग ने कविता पाठ का आयोजन किया। 7 अक्टूबर 1955 को हुई उस घटना को सिक्स गैलरी में सिक्स कवि (six poets at six gallery) नाम से प्रचारित किया गया। माइकल मेक्ल्यूर ने अपनी पुस्तक 'Scratching the Beat Surface' में लिखा "वह जानता था कि सभी कवि जो इस

आयोजन में भाग ले रहे थे युद्ध संस्कृति के दबाव से उद्विग्न थे। हम शीत युद्ध एवं कोरियन युद्ध के रूप में प्रथम एशियाई हार में जकड़े जा चुके थे। एक कलाकार के रूप में हम उद्विग्न थे तथा देश की जनता भी उद्विग्न थी। उनमें कुछ हम जैसे थे जो या तो डरे हुए थे या बहादुर थे, परन्तु बिना बोले हम अपनी या औरों की सहायता नहीं कर सकते थे, हमें बोलना ही था। हम जानते थे कि हम कवि हैं और हमें कवि की तरह बोलना चाहिए। हमने देखा कि कविता की कला निश्चित रूप से मर चुकी थी। वह युद्ध, अकादमियों, अवहेलना, प्यार की कमी और अरुचि द्वारा मारी गयी थी। हम जानते थे कि हम उसे जीवन दे सकते थे।"[12]

सबसे पहले गिंसबर्ग की कविता 'हाउल' यहीं जनता के सामने आयी और उसने सम्पूर्ण परिवेश को आंदोलित कर दिया। कविता कुछ यूँ शुरू होती है–

मैंने अपनी पीढ़ी के सर्वश्रेष्ठ मस्तिष्कों को पागलपन से बर्बाद होते देखा है,
भूखे नंगे और विक्षिप्त।[13]

आगे वह अपनी पीढ़ी के युवाओं की दशा और दिशा यूँ बयान करता है–

जो विश्वविद्यालयों से चमकदार, गंभीर आँखों, छलावे के आर्कसंस तथा ब्लैक लाइट ट्रेजडी को लिए हुए युद्ध विद्यार्थियों के रूप में पास हुए,
जिन्हें खोपड़ी की खिड़की पर सनकी एवं अश्लील उदात्त कविताएँ लिखने के आरोप में अकादमियों से निकाल दिया गया था।
जो दाढ़ी बढ़ाए सिर्फ अंत वस्त्र पहने कमरों में डर के मारे दुबके थे।
जलाते हुए अपने धन को कूड़ेदान में
और सुनते हुए आतंक को दीवारों के जरिए।
जो फिर उपस्थित हुए पश्चिमी तट पर
एफ.बी.आई. की जाँच के लिए
दाढ़ी बढ़ाए सिर्फ जाँघिए में,
बड़ी–बड़ी निराशावादी आँखों और गहरे चमड़े के साथ
न समझ में आने वाली छोटी–छोटी पुस्तिकाएं बांटते हुए,
जिन्होंने पूंजीवाद के नशीले तम्बाकू के धुंध के विरुद्ध प्रदर्शन करते हुए
सिगरेट के छिद्रों को अपने हाथों में जला डाला
जिन्होंने नंगे और रोते हुए यूनियन स्क्वेयर पर बांटे

सुपर कम्युनिस्ट पर्चे
जबकि लास अलमास के भोंपू ने उन्हें नीचे गिरा दिया और दीवार को भी
डूब गए स्टेटन द्वीप के घाट भी,

जो साफ सुथरी व्यायामशालाओं में रोते रहे नंगे तथा कांपते रहे डर से दूसरे कंकालों की मशीनरी के सामने,
जिनकी गर्दन पकड़कर उन्हें जासूस बताया गया और जो पुलिस की कारों में चीखें इस प्रसन्नता से कि उन्होंने कोई अपराध नहीं किया था अपितु अपनी आदिम भूख और नशे की ओर लौटे थे,

जो फुटपाथ पर घुटनों के बल बैठकर कुत्तों की तरह चिल्लाते रहे
और जिन्हें जनेंद्रिय एवं पाण्डुलिपियां दिखाने के कारण
घसीटकर घरों से बाहर फेंक दिया गया
इस तरह,
जीवन की कविता का परम हृदय
अलग कर दिया गया उनके शरीर से
मांस के लोथड़े की तरह,
कई हजार सालों तक खाये जाने के लिए।[14]

मैक्ल्यूर ने बाद में 'Scratching the Beat surface' में लिखा कि गिंसबर्ग जब कविता पढ़ रहे थे तो –"दर्शक कौतूहल मे खड़े थे, शोर मचा रहे थे, आश्चर्य चकित थे, परन्तु गहरे स्तर पर वे समझ रहे थे कि एक बाधा तोड़ दी गई है एक मानवीय ध्वनि और मानवीय शरीर ने अमरीका की कठोर दीवार पर जोर से टक्कर मारी है।"[15]

उन दर्शकों में सेन फ्रांसिस्कों का प्रकाशक लारेन्स फर्लिगेन्टी भी था जिसने 'एक अराजक प्रशासनिक स्वतंत्रतावादी तानाशाही के विरूद्ध एक परंपरा' नामक अपनी प्रकाशन संस्था से हाउल तथा अन्य कविताओं को सिटी लाइफ पाकेट सीरीज में प्रकाशित किया। अमरीकी प्रशासन द्वारा 25, मार्च 1957 को उसे प्रतिबंधित कर जब्त कर लिया गया। गिंसबर्ग पर यह आरोप था कि उसकी भाषा समलैंगिकता की वकालत करती हैं और अश्लील है। फर्लिगेन्टी ने इसका कड़ा प्रतिवाद किया "कवि नहीं बल्कि

जो उसने प्रेक्षित किया है और जो उसने दर्शाया है वह अश्लील है। हाउल के महान अश्लील अपशिष्ट उस यांत्रिक विश्व के दुःखदायी अपशिष्ट हैं जो कि एटम बमों एवं विक्षिप्त राष्ट्रवाद में खो चुका है।"[16] लगभग छः महीने बाद केलिफोर्निया विश्वविद्यालय के मार्क स्कोरर, पोएट्री मैगजीन के सम्पादक हेनरी रेगो एवं न्यू डारयेक्शन के जेम्स लाफलिन के प्रमाण पत्र जारी करने के बाद जज क्लेटन हार्न ने यह फैसला सुनाया कि गिंसबर्ग ने कोई अश्लील कविता नहीं लिखी है।

23 फरवरी 1957 के 'नेशन' में एम.एल. रोजेन्थल ने 'हाउल' की समीक्षा में लिखा "वास्तविक पीड़ा की अनुभति की कविता, इसकी गतिशीलता इसकी इस विशेषता में निहित है कि यह किस प्रकार सहानुभूति की स्वतंत्रता की तात्विक आवश्यकता को अपचित की तरह उगल देती है। यह विचारों की प्रचुर मात्रा में खोज यात्रा करती है तथा अतिबौद्धिक कुरूपता की चिकनी मशीनरी द्वारा मनुष्य से मनुष्य की खुली प्रतिक्रिया पर लगे बन्धनों को तोड़ती है।"[17] 'हाउल' के प्रकाशन एवं उसकी प्रसिद्धि के बाद बीट आंदोलन ने एक व्यापक साहित्यिक आंदोलन के रूप में अपनी जगह बना ली। बीट लेखकों ने समस्त परम्परागत काव्यशास्त्रीय, नैतिक, वैचारिक एवं सामाजिक प्रतिमानों के विरूद्ध 'स्व' के उन्मेष एवं अराजक मनोस्थिति के जरिए कालातीत सत्य की खोज का नारा दिया। यही कारण था कि उन्होंने साहित्य में उन वर्जित शब्दों का खुलकर प्रयोग किया जो तत्कालीन सामाजिक मापदण्डों के हिसाब से अनैतिक एवं वर्जनीय थे। शीतयुद्ध के समय व्याप्त व्यवस्थागत कुहासे को चीरने के लिए उन्होंने ऐसी शब्दावली का प्रयोग किया जिसने व्यवस्था के कलपुर्जों पर पड़ी परत को उखाड़कर उसका नग्न एवं भयानक चेहरा जनता के सामने प्रस्तुत किया। संभोग, जनेंद्रिय, ड्रग्स एवं अप्राकृतिक सेक्स में डूबी इनकी भाषा ने साहित्य के जरिए सम्पूर्ण अमरीकी समाज में खलबली मचा दी। परम्परागत विधि–निषेधों के विकल्प में इनके दिए गए घोर अराजक वक्तव्य युवाओं के लिए बंधनों से बाहर निकलकर व्यवस्था को समय के सापेक्ष देखने एवं समझने के लिए प्रेरित करने लगे। बीट लेखक भी यही चाहते थे कि पर्दा हटे और वह सच सामने आए जो वास्तव में है। इस दौरान अन्य कई बीट लेखकों की रचनाएँ भी प्रकाश में आयीं जिनमें प्रमुख थीं फर्लिन्गेटी का 'पिक्चर्स आफ दि गान वर्ल्ड' तथा 'ए कोनी आइसलैंड आफ दि मांइड', ग्रेगरी कोर्सो का 'द वेस्टल लेडी आन ब्रेटल एंड अदर पोएम्स' तथा 'गैसोलीन एण्ड बम', माइकल मेक्ल्यूर का 'पैसेज' तथा पिओटी पोयम' एवं डिएनेडी प्रीमा का 'दिस कांइड आफ वर्ड फ्लाइज बैकवर्ड'।

एलेन गिंसबर्ग ने बीट साहित्य के नजरिए से कला को परिभाषित करते हुए कहा "कला की खोज कलाकार अपनी वास्तविक प्रकृति के भीतर से करता है निरावरण होकर, निर्भय होकर, सामाजिक स्वीकृति और अस्वीकृति की ओर से आँख मूँदकर। कलाकार गायक अथवा परम्परा का अनुगामी नहीं होता। उसके भीतर जो कुछ है यदि वह परम्परा से भिन्न है तथा समाज की प्रचलित रीति–नीति अथवा समाज के लोकाचार के विपरीत है तो भी वह उसकी अभिव्यक्ति करता है। कला नग्न सत्य का उद्‌घाटन करती है जो परम्परा की दृष्टि में असुन्दर हो सकता है, परन्तु कालान्तर में वह सौंदर्य बोध की प्रतीक बन जाती है।..... कला कलेवर की नहीं तत्व की साधना है। कलाकार बाह्य का नहीं अन्तरात्मा का दार्शनिक होता है। .....अनुभूतियों का यथार्थ चित्रण ही कला है। कला में कृत्रिमता नहीं होती, आवरणों से ढंकना नहीं होता, उसमें सहजता और वास्तविकता होती है। कला में निरावरण करने की क्रिया समाहित है। ..... इंट्रोवर्ट अर्थात् अन्तर्मुखी व्यक्ति फिल्दी अर्थात गन्दा नहीं होता। गंदगी उस समाज में होती हैं जिसकी छवि अन्तर्मुखी व्यक्ति के माध्यम से सामने आती है।"[18] अपनी कविता पर लगने वाले अनैतिकता एवं यौन अराजकता के अरोपों का जवाब देते हुए उसने कहा "नैतिकता कोई भौतिक विषय नहीं है उसे केवल बाह्य आचरणों तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता, यौन विषयक नैतिकता, अनैतिकता से परे काया का सजह धर्म है और उसे उसी रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। नैतिकता का मूलभूत तत्व यह है कि मानवीय एकता, प्रेम और अस्तित्व की शाश्वत महत्ता को स्वीकार किया जाए।"[19]

गिंसबर्ग ने अपनी कला विषयक धारणा का अपनी कविताओं में खुलकर प्रयोग किया तथा उसे जो जिस तरह से सही लगा उसने वही व्यक्ति किया बिना इस परवाह के कि कहीं वह अनैतिक या अतिचारी तो नहीं हो रहा। उसने अमरीकी प्रशासनिक व्यवस्था में व्याप्त भ्रष्टाचार एवं विसंगतियों पर खुली चोट की। उसे अपारदर्शी परिधान के झीने आवरण में ढंकने की अनावश्यक नैतिकता की खुली अवहेलना करते हुए व्यवस्था को पूर्णतः नग्न कर दिया। उसे मालूम था कि नग्नता कुछ करे या न करे उत्तेजना एवं विक्षोभ जरूर पैदा करती है और यही वह करना चाहता था। अपनी प्रसिद्ध कविता अमरीका में उसने लिखा–

अमरीका मैंने तुम्हें सब कुछ दे दिया और अब मैं कुछ नहीं
अमरीका दो डालर और सत्ताइस सेन्ट्स जनवरी 17, 1956
मैं अपने मन के सामने खड़ा नहीं रह सकता

अमरीका हम कब मानवीय युद्ध बन्द करेंगे?
जाओ चोदो अपने को अपने एटम बम से
मुझे अच्छा नहीं लगता मुझे परेशान मत करो
मैं तब तक अपनी कविता नहीं लिखूँगा जब तक मेरा दिमाग सही नहीं हो जाता।
अमरीका तुम कब दिव्य बनोगे?
कब तुम अपने कपड़े उतारोगे?
कब तुम अपने आप को कब्र से देखोगे?
कब तुम अपने करोड़ों ट्राट्स्काईट्स के मूल्य को जानोगे?
अमरीका तुम्हारे पुस्तकालय क्यों आँसुओं से भरे हैं?
अमरीका तुम अपने अण्डे भारत कब भेजोगे?
मैं तुम्हारी विक्षिप्त मांगों से बीमार हो गया हूँ
मैं कब सुपरमार्केट में जाकर अपनी सुन्दर देहयष्टि से वह खरीद सकूँगा जिसकी मुझे जरूरत है?
अमरीका अन्ततः यह तुम और मैं हूँ जो सम्पूर्ण हैं अगला जन्म नहीं।
मैं तुम्हें सम्बोधित कर रहा हूँ।
क्या तुम अपनी भावनात्मक जिंदगी को टाइम मैगजीन को चलाने दोगे?
मैं टाइम मैगजीन से सम्मोहित हूँ।
मैं इसे हर सप्ताह पढ़ता हूँ।
इसका कवर मुझे हर वक्त घूरता है जब मैं कोने की चाकलेट की दुकान से चुपके से गुजरता हूँ
मैंने इसे बर्कले पब्लिक लाईब्रेरी के तहखाने में पढ़ा है
यह मुझे हमेशा जिम्मेदारियों के बारे में बताती रही है
व्यवसायी गंभीर हैं।
फिल्मों के निर्माता गंभीर हैं।
मेरे अलावे सभी गंभीर है।
मुझे ऐसा लगता है कि मैं अमरीका हूँ
मैं फिर खुद से बातें कर रहा हूँ।[20]

इस कविता में गिंसबर्ग अमरीकी प्रशासन, समाज एवं नैतिकता के पारंपरिक एवं प्रचलित प्रयोगों एवं अर्थों को सूक्ष्म पर्यवेक्षण एवं गहन आलोचनात्मक

दृष्टि से उघाड़ कर रख देता है। इस व्यवस्था ने उसका दिमाग खराब कर दिया है। वह चाहता है कि व्यवस्था अपने कपड़े उतारे अर्थात बाहरी दिखावे से इतर उस आंतरिक सूक्ष्म एवं विद्रूप सत्य को देखे या समझे जो आज उसकी सर्वप्रमुख विशेषता है। ऐसे में यह अनायास ही नहीं कि इस अराजक एवं दुव्यर्वस्थित समय एवं समाज में अमरीका उसे अपवित्र लगता है, कब्र में सोया हुआ। पुस्तकालयों का आँसुओं से भरना उस बौद्धिकता का चरम भावनात्मक रूदन है जो टाइम मैंगजीन की चरम भौतिकतावादी दुनिया के कवर पर छपकर अपनी मानवीय क्षमता एवं अर्थ खो चुकी है और विडम्बना यह कि उसे पढ़ने के लिए अर्थात् समझने के लिए तहखाने की शरण लेनी पड़ती है खुलेआम यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह ठीक नहीं हो रहा।

ऐसे में व्यवस्था की विक्षिप्त मांगों से बीमार कवि को ऐसा लगता है कि वही अमरीका है, अर्थात सम्पूर्ण अमरीका बीमार है और सीजोफ्रेनिक केस की तरह स्वयं से बातें कर रहा है। स्पष्ट है कि सम्पूर्ण अमरीका उसे मनोरोगी अर्थात् दूषित वैचारिक प्रतिमानों से ग्रस्त नजर आता है। अतः अकारण नहीं कि चिंतित कवि की आत्मा चीत्कार कर उठती हैं और इस चीत्कार में आक्रामक अनैतिक बयान देती है कि 'जाओ चोदो अपने को अपने परमाणु बम से'। यह व्यवस्थाजन्य परिस्थितियों से लाचार कवि का अराजक मनोलोक में पलायन है जहाँ से यौन विम्बों के माध्यम से वह कम से कम अपनी कुंठित फैंटेसी की तुष्टि तो कर सकता है। व्यवस्था बदले या न बदले कम से कम इस अपराध से तो छुटकारा पा सकता है कि इस चरम अनैतिक परिवेश में रहते हुए उसने छद्म नैतिकता का दामन नहीं थामा अपितु जो जैसा दिखा चाहे वह गंदा एवं वीभत्स ही क्यों न हो उसे ईमानदारी के साथ व्यक्त किया। अभिव्यक्ति की यह रचनात्मक ईमानदारी सम्पूर्ण बीट पीढ़ी की सर्वप्रमुख विशेषता रही है जैसा कि जेक केरूआक ने कहा "जो कुछ कहना है अभी कह दो अन्यथा हमेशा के लिए मौन हो जाओ।"[21]

गिंसबर्ग ने इस राजनीतिक व्यवस्था की शल्यक्रिया की अपनी प्रसिद्ध कविता 'डेथ टु वैन गाइज ईयर' में। यह कविता लिखने की प्रेरणा उसे प्रसिद्ध चित्रकार विंसेण्ट वान गॉग से मिली जो अपने संघर्षशील जीवन के अन्त में बहुत एकाकी था। स्नेह से वंचित, उदभ्रान्त और विक्षिप्तता में एक दिन उसने एक वेश्या को स्नेह उपहार स्वरूप अपना एक कान काटकर दे दिया था। इस कविता में गिंसबर्ग ने शीतयुद्ध की

संकीर्णता से उपर उठकर रूसी शासन–व्यवस्था और अमरीकी शासन–व्यवस्था दोनों के खिलाफ विद्रोहपूर्ण बयान दिए–

धन ने कूत लिया है अमरीका की आत्मा को
फ्रैंको ने कत्ल कर दिया लोर्का को जो ह्विटमैन का धर्मपुत्र था
ठीक जैसे रूस से बचने को खुदकुशी कर ली मायकोवस्की ने
ठीक जैसे ह्वाइट हाउस के गुप्त तहरवानों में जला दिए गए लाखों टन
इनसानी गेहूँ
जबकि हिन्दुस्तान भूखों मर रहा था, चीख रहा था और गुजर कर रहा था
पागल कुत्तों पर
और मैं चल रहा हूँ। चल रहा हूँ एशिया मेरा हमराही है
और अफ्रीका भी
और आज नहीं तो कल अमरीका भी मेरे साथ चलेगा।
मैं वह सुरक्षात्मक राज्य–व्यवस्था हूँ जो खतरे की सूचना पहले देती है
मुझे दीख रहे हैं कुछ नहीं केवल बम
मुझे क्या दिलचस्पी कि मैं एशिया को एशिया बनने से रोकूँ
और एशिया और रूस की सरकारें बनेंगी और विलीन हो जायेंगी
लेकिन एशिया और रूस विलीन नहीं होंगे
अमरीका की सरकार भी बिला जाएगी – लेकिन अमरीका नहीं
मुझे शक हैं कि अब कोई भी विघटित होगा सिवा सरकारों के
सौभाग्य से सभी सरकारें एक दिन विघटित होंगी
अगर विघटित नहीं होंगी तो वह अच्छी सरकारें हैं
और अच्छी सरकारें अभी तक दुनिया में कहीं हैं ही नहीं
लेकिन वे अच्छी सरकारें, उन्होंने अस्तित्व धारण करना शुरू कर दिया है
मेरी कविताओं में
इतिहास मेरी इस कविता को पैगम्बरी वाणी साबित करेगा
मनुष्य अब आदमखोर अयथार्थ की भूख बरदास्त नहीं कर सकता
युद्ध अयथार्थ आदर्श है
और दुनिया नष्ट हो जाएगी
पर में सिर्फ कविता के लिए शहीद हो सकता हूँ जो दुनिया को बचा लेगी
अब दैत्य के लिए प्रचार एक मिनट भी बरदाश्त नहीं

और कवियों को राजनीति से अलग रहना चाहिए या दैत्य बन जाएँ
धन। धन। धन। चीखता हुआ उदभ्रान्त अलौकिक धन!
भ्रान्तियों का धन जो मिलकर बना है शून्य से, भूखमरी से,
आत्महत्या से। धन असफलता का। धन मौत का।[22]

इस पूरी कविता में गिंसबर्ग शीतयुद्ध के दोनों ध्रुवों सोवियत संघ एवं अमरीका की कड़ी आलोचना करता है। उसे इन लोगों के दिखावटी एवं वास्तविक चेहरे के बीच का विद्रूप अन्तर पता है इसलिए वह हर हाल में राजनैतिक प्रतिबद्धता से खुद को और अपनी कविता को बचाना चाहता है क्योंकि उसे विश्वास है कि इस अराजक एवं अमानवीय राजनीति से परे वास्तविक मानवीय मूल्यों की आकांक्षी उसकी कविता दुनिया को बचा लेगी। इसलिए वह भ्रान्ति, भूखमरी, आत्महत्या, असफलता, विघटन, आदमखोरी एवं मौत से परिपूर्ण इस अराजक निराशावादी समय में भी कविता के जरिए आशा का दामन नहीं छोड़ता क्योंकि उसी के वक्तव्य के अनुसार "कला नग्न सत्य का उदघाटन करती हैं जो परम्परा की दृष्टि में असुन्दर हो सकता है, परन्तु कालान्तर में वह सौंदर्य बोध का प्रतीक बन जाती है.... कला कलेवर की नहीं तत्व की साधना है। कलाकार वाहय का नहीं अन्तरात्मा का दार्शनिक होता है, अनुभतियों का यथार्थ चित्रण ही कला है।"[23] अतः परम्परागत राजनीतिक प्रतिबद्धता से इतर नवीन काव्यात्मक प्रतिबद्धता, अनुभूतिजन्य वास्तविकता एवं रचनात्मक ईमानदारी के माध्यम से गिंसबर्ग कविता को ही व्यवस्था का विकल्प बना देता है। उसे उम्मीद हैं कि एक दिन उसकी कविता पैगम्बरी वाणी साबित होगी और सब उसपर अमल करेंगे।

एलेन गिंसबर्ग ने एक बार कहा था कि "ईश्वर मुझे पागल बना दो मैं अपने मस्तिष्क के विघटन के लिए तैयार हूँ"[24] तो ऐसा वह व्यवस्था की विक्षिप्तता से बचने के लिए कह रहा था क्योंकि उसे ऐसा लगता था कि यह व्यवस्था जिसमें वह जी रहा है वह इतनी नृशंस और अमानवीय है कि उसमें जीने से बेहतर है पागल हो जाना। चीखता हुआ उद्भ्रान्त अलौकिक धन शून्य, भूखमरी एवं आत्महत्या से मिलकर बना है, अर्थात् असहाय एवं निरपराधों का खून चूसकर उनके अधिकार छीनकर शिष्ट वर्ग ने इस कास्मेटिक एवं सुरूचिसंपन्न व्यवस्था का निर्माण किया है। वास्तविक मानवीय अभिप्रतों से इतर बाजार का अतिचार एवं अभिव्यक्ति की स्वायत्तता जहाँ का मौलिक विचार एवं व्यवहार हैं ऐसे धन को वह प्रगति का मापदण्ड मानने से इंकार करता है। उसके लिए यह धन असफलता एवं मौत का प्रतीक है। ऐसे में अगर वह

अराजक एवं निराशावादी हो जाता है तो यह उसकी मानसिक विकृति कम व्यवस्था की विकृति ज्यादा है। 'हाउल' की पहली पंक्ति का अर्थ यहाँ और स्पष्ट रूप से खुलता है "मैंने अपनी पीढ़ी के सर्वश्रेष्ठ मस्तिष्कों को पागलपन से बर्बाद होते देखा है, भूखे नंगे और विक्षिप्त"। ये सर्वश्रेष्ठ मस्तिष्क उस विद्रूप को समझ चुके हैं, जिसे प्रगति एवं परम्परा के नाम पर जायज साबित किया जाता रहा है परन्तु विकल्प का अभाव उन्हें असंतुलित एवं कुंठित कर देता है। उन्हें पता है कि उन्होंने कुछ गलत नहीं किया पर गर्दन से पकड़कर उन्हें जासूस बताया जाता है इसलिए कि व्यवस्था उनसे जो स्वीकार करवाना चाहती है उनकी विकसित चेतना एवं परिपक्व विवेक उन्हें उसे करने से रोकता है, अकारण नहीं कि गिंसबर्ग कहता है "मैं तब तक कविता नहीं लिखूँगा जब तक कि मेरा दिमाग सही नहीं हो जाता।" परिस्थितिजन्य दबाव एवं विकल्प का अभाव उसके स्व को अराजक एवं निराशावादी परिवेश में धकेल देता है।

बीट पीढ़ी की मान्यता है– "कूटनीति झूठ के अतिरिक्त कुछ नहीं और व्यापार केवल छलकपट और लूट है नैतिक मूल्य कहाँ हैं? नैतिक मूल्य एक मुलम्मा हैं। नैतिक मूल्य मर चुके हैं या कत्ल कर दिए गए हैं और अब केवल एक शून्य है। हमें इस शून्य को समझना चाहिए जो हमारी दुनिया में मौजूद है। विज्ञान ने प्राचीन मान्यताओं को बदल दिया है और नये मूल्यों का विकास नहीं हुआ और फिर केवल मूल्य ही पर्याप्त नहीं। विज्ञान अकेले यह कार्य नहीं कर सकता। हमें एक नया मानववाद चाहिए। पुरातन मानववाद मर चुका है जैसा हम जानते हैं यह मानववाद ही है जिसने यह सारी समस्याएँ पैदा की हैं और शून्य को जन्म दिया है। एक ऐसा शून्य जिसने मर्लिन मनरो को निगल लिया है। इसके लिए हमारी संस्कृति जिम्मेदार है। किसी को इसकी कहानी लिखनी चाहिए।"[25] केरूआक का कथन है "कल रात मैं बुलन्दी की चरम सीमा पर पहुँच गया। मुझे सब ज्ञात हो गया। अर्थात् मुझे ज्ञान हो गया क्यों?

"हम किस लिए जीवित हैं। मूल प्रश्न यही है जिसका उत्तर हम तलाश कर रहे हैं और इसका उत्तर मनुष्य की वैयक्तिक आत्मा की काली रात से उत्पन्न होगा।"
"हमें जाना ही पड़ेगा और उस समय तक नहीं रूकेंगे, जब तक हम वहाँ नही पहुँच जाते"
"मनुष्य हम कहाँ जा रहे हैं?"
"यह मैं नहीं जानता लेकिन हमें जाना ही पड़ेगा।"[26]

बीट पीढ़ी की घोषणा है "यह धरती तो अपने विनाश की ओर बढ़ रही है। यहाँ जिंदगी को सहज बनाने के लिए सिर्फ एक ही उपाय है कि यथार्थ को मुँह दर मुँह जैसा वह है उसे वैसा ही देखा जाए। इसके अलावा बाकी सब धोखा है, बहकावा है। दुनियादारी की तो एक छद्म मानसिक दुनिया है जिसमें एक चित्रवातायान है, जिसमें से कब्रगाह दिखती है और वह दीवारों पर राजनीतिक नारे लिखता घूमता है। लेकिन जो बीट है वह जानता है कि वह नितांत अकेला है और उसकी समस्या यह है कि इस बोध के साथ उसे जिंदगी जीना सीखना है।"[27]

ग्रेगरी कोर्सो ने कहा "मैं एक व्यक्ति के सिवा कुछ नहीं। मैं न शासन करना चाहता हूँ न शासित होना। मैं समाज के शासन की उपेक्षा करने की कोशिश कर रहा हूँ। मैं समाज में रहना नहीं चाहता, उससे बाहर होना चाहता हूँ। यह मेरी कोई सचेत इच्छा नहीं है, यह वह है जो मैं हूँ, जैसे मैं हूँ।"[28] वास्तव में सामाजिक, मनोवैज्ञानिक एवं आंशिक राजनीतिक अर्थों में बीट बाहरी व्यक्ति की पराजित परिस्थितियों को व्यक्त करता है जो कि थका अवश्य है परन्तु हारा नहीं है। बीट विलगित, प्रतिस्थापित एवं आंशिक रूप से विक्षिप्त के पक्ष को संरक्षण देते हैं। परिधि पर से सामान्य सामाजिक चक्र को देखते हैं तथा उसके अनुशासन एवं नियमों को मानने से इंकार करते हैं।

बीट स्कूल के रचनाकारों पर बौद्ध एवं जैन दर्शन का काफी प्रभाव है। स्वयं जेक केरूआक ने कहा है "मैं बुद्ध हूँ और गिंसबर्ग देवदत्त"[29] केरूआक ने यह भी स्वीकार किया है कि उनके लेखन पर बौद्ध दर्शन की महायान शाखा एवं हायकू नामक छंद का प्रभाव है। उन्होंने स्वयं के लेखन पर ड्रग्स के प्रभाव को भी स्वीकार किया है और यह भी कहा है कि 'मैक्सिको सिटी ब्लूज' की '230 कविता' पूर्ण रूप से मार्फिन के नशे में लिखी गयी है।[30]

बीट रचनाकारों ने स्वतः स्फूर्त लेखन पर बल दिया। रचना पर किसी भी बन्धन को अस्वीकार करते हुए उन्होंने वही लिखा जो उनके अंतर्मन से उपजा चाहे उसका स्वरूप जो भी हो। इसी को उन्होंने रचनात्मक ईमानदारी एवं सच्ची नैतिकता के रूप में परिभाषित किया। गिंसबर्ग के शब्दों में "सबसे पहले हम जो वास्तव में जानते हैं और जो लिखते हैं उसमें कोई अन्तर नहीं होना चाहिए। यह जानने की प्रक्रिया रोज चलती है सबके साथ। आप जानते हैं जिसे औपचारिक साहित्य कहते हैं वह साहित्यिक

पाखंड है, जो वास्तव में अलग होता है। विषय में 'शब्द में यहाँ तक कि संगठन में, क्वॉटिडेशन से प्रेरित हमारे जीवन से भिन्न होता है।"[31]

गिंसबर्ग ने अपने लेखन एवं चिंतन को स्पष्ट करते हुए कहा "सामान्यतः काव्य निर्माण के समय कदम दर कदम, शब्द दर शब्द, विशेषण दर विशेषण यदि वह सब स्वतः स्फूर्त हैं, मैं नहीं समझ पाता का कि क्या कभी यह कोई बोध भी देता है। परन्तु कभी–कभी मुझे लगता है कि यह पूर्ण बोध प्रस्तुत करता है और मैं रोने लगता हूँ क्योंकि मुझे आभास होता है कि मैं कुछ ऐसे क्षेत्रों पर चोट कर रहा हूँ जो एकदम सही है। और उस अर्थ बोध से यह सार्वत्रिक रूप से उपयुक्त या सार्वत्रिक रूप से समझने योग्य है। इस बोध में समय के साथ उत्तरजीवी भी है, इस बोध से किसी के द्वारा पढ़े और रोय जाने योग्य है, शायद शताब्दियों बाद। इस बोध से भविष्यवाणी यह नहीं होती कि आप वास्तव में जानते हैं कि बम 1942 में गिरेगा। यह कुछ इस तरह है कि आप कुछ ऐसा जानते और महसूस करते हैं जो कोई व्यक्ति सैकड़ों सालों में एक बार जानता और महसूस करता है और शायद उसे एक संकेत में स्पष्ट करते हैं, एक ठोस रूप में जिसे वे सैकड़ों सालों में पकड़ पाते हैं।''[32] स्पष्ट है कि गिंसबर्ग जानता था कि वह जो लिख रहा है उसको आज भले ही छद्म नैतिकतावादियों द्वारा उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाए परन्तु इतिहास उसे सच साबित करेगा और भविष्य के इसी सच के लिए वह तात्कालिक उपेक्षा के दंश को झेलते हुए भी अपनी रचनात्मक ईमानदारी को बचाए रखना चाहता है। गिंसबर्ग ने अपनी कविता पर महान चित्रकार सेजानें की कला का प्रभाव भी स्वीकार किया है। उसका स्पष्ट अभिमत है कि 'हाउल' का अंतिम भाग कला एवं विशेष रूप से सेजानें की कला को एक श्रद्धांजलि है। जिस प्रकार सेजानें की कला में 'पेटाइट सेन्सेशन्स' के जरिए 'अनएक्सप्लेनेबल' एवं 'अनएक्सप्लेन्ड' के बीच की खाई को विपरीत रंगों द्वारा भरने की कोशिश की जाती है उसी प्रकार गिंसबर्ग यह कार्य कविता में 'अनएक्सप्लेनेबल' तथा 'अनएक्सप्लेन्ड नॉन पर्सपेक्टिव लाइन्स' के जरिए (जिसे कला की भाषा में 'जक्स्टापोजीशन' कहा जाता है) व्यक्त करने की कोशिश करता है।[33] गिंसबर्ग की कविताओं में कभी–कभी दो पंक्तियों के बीच अर्थ का अभाव होता है, वहाँ भाषा मौन हो जाती है तथा पाठक के मस्तिष्क की संवेदनशीलता उस अर्थ के गैप को भरती है। ऐसा करते समय गिंसबर्ग की कविता मस्तिष्क के अलग–अलग भागों में एक साथ पहुँचती है तथा विभिन्न प्रकार के संवेदनात्मक सम्बन्धों को ऐक्य प्रदान कर उद्दाम मानसिक आवेग की सृष्टि करती है।

बीट पीढ़ी के रचनाकारों ने सेक्स के सम्बन्ध में खुलकर लिखा तथा उनके निजी जीवन भी उन्मुक्त सेक्स सम्बंधों से परिपूर्ण थे। इस कारण इनकी रचनाओं को अनैतिक, अश्लील एवं पोर्नोग्राफिक कहकर आलोचना की गयी और उनके साहित्यिक होने पर ही प्रश्नचिन्ह लगाने की कोशिश की गयी। प्रसिद्ध बीट लेखक विलियम बरो ने इन आरोपों का जवाब देते हुए कहा "मुझे लगता है कि अन्य प्रायोगिक मानवीय भूखों की तरह सेक्स को भी नियंत्रित रखने या वास्तव में अमानवीय उद्देश्यों के लिए निम्नस्तरीय बना दिया गया है। यह सम्पूर्ण रूप से चरम नैतिकतावादी नजरिया है परंतु अगर हम इस विषय में अन्वेषण शुरू करते हैं तो हम कैसे कभी भी सेक्स के बारे में कोई वैज्ञानिक तथ्य प्राप्त कर सकते हैं। इसके बारे में ने तो सोचा जा सकता है न लिखा जा सकता है। हम सेक्स के बारे में कुछ भी नहीं जानते यह क्या है? यह आनंददायक क्यों है? आनंद क्या है? तनाव से मुक्ति? शायद।"[34] स्पष्ट है कि ये सेक्स को भी अन्य सामाजिक प्रक्रियाओं की तरह एक सहज स्वाभाविक प्रक्रिया मानते थे और चूँकि समस्त सामाजिक प्रतिमानों व प्रक्रियाओं को ये नये सिरे से खोजने एवं परिभाषित करने को आतुर थे फलस्वरूप इन्होंने सेक्स पर भी खुलकर विचार किया। चूँकि सेक्स का क्षेत्र पारंपरिक समाजों में नैतिकता का सबसे बड़ा टैबू होता है और इस पर सर्वाधिक वर्जनाएं होती है अतः यह स्वाभाविक था कि वर्जना मुक्ति के आधारभूत नारे एवं नये सामाजिक सम्बन्धों तथा मर्यादाओं की स्थापना की मांग को लेकर उठने वाले इस आंदोलन में सेक्स वर्जनाओं के खिलाफ विस्फोटक बयान जारी किए गए तथा जीवन एवं साहित्य में उन्मुक्त एवं स्वाभाविक सेक्स सम्बन्धों की वकालत की गयी।

'नेशनल रिव्यू' में 18 नवम्बर 1961 को राल्फ डी टालन्डेनों ने एक लेख में बीट्स की कड़ी आलोचना की। उन्होंने लिखा "यह बाथटब में होने वाले पानी के ओवरफ्लो की तरह की भयानक दुर्घटना है। .....इनका कलात्मक विद्रोह खच्चरों के संभोग की तरह अनुत्पादक है। बीट स्कूल के रगड़ एवं धक्के हमारे समय के तिक्त स्वाद एवं असामान्य संवेदनाओं को भले प्रभावित कर लें परन्तु कविता से इनका इतना ही सम्बन्ध है जितना कपड़े उतारने की क्रिया का सेक्स से।"[35]

बीट आंदोलन ने उन समस्त पारम्परिक प्रतिमानों को खुली चुनौती दी जो साहित्यिक एवं सामाजिक क्षेत्र में तथाकथित सभ्य समाज के नैतिक तर्क और व्यवस्था को संचालित करने के वैचारिक आधार थे। उन्होंने नैतिकता की परम्परागत रूढ़ियों को मानने से इंकार कर दिया। उनका विश्वास था कि वर्तमान व्यवस्था में

वैचारिकता एवं वास्तविकता के बीच जो व्यवहारिक फाँक है वह चरम अनैतिकता की द्योतक है। वे इस दोमुँही विचार प्रणाली में स्वयं को कैद नहीं रखना चाहते थे। जब उन पर यह आरोप लगाया गया कि उनमें अमरीकी सभ्यता के साथ गंभीर सम्बन्ध की कमी है तो उन्होंने पलटकर जवाब दिया "हम उन वस्तुओं में विश्वास नहीं रखते जिनमें तुम्हें विश्वास हैं क्योंकि यह दुनिया तुम्हारी बनायी हुई है।"[36] स्पष्ट है कि वे इस दुनिया के कायदे कानूनों में विश्वास नहीं करते थे। उन्होंने नैतिकता की नयी परिभाषा सामने रखी कि जो जैसा है उसे व्यक्त कर देना न कोई परदा न कोई संकोच। मात्र सच कहना चाहे वह कितना गंदा, वीभत्स एवं विद्रूप क्यों न हो। यही कारण है कि उनकी कविताएँ भयावह यौन विम्बों से भरी हे क्योंकि वे नैतिकता की सबसे पारंपरिक और सबसे मजबूत अवधारणा यौन नैतिकता को प्रश्नांकित करना चाहते हैं। उससे मुक्त होकर, उसको जैसे चाहे वैसे दिखाकर और स्वयं जीकर वे पारंपरिक व्यवस्था के मूल्यों पर तगड़ी चोट करते हैं। उन्हें पता है कि सामान्य अभिव्यक्ति के दिन अब लद गए अतः वे असामान्य अभिव्यक्ति का रास्ता चुनते हैं। इस उबड़–खाबड़ रास्ते पर वे बिना किसी डर के दुरूह रचनात्मक यात्रा करते हैं। साहित्य के जरिए समाज के ऊपर की चिकनी, कास्मेटिक एवं समस्यापूर्ण परत को उघाड़ कर उसका विद्रूप एवं सही चेहरा सामने रख देते हैं। यह अलग बात है कि इस सम्पूर्ण प्रक्रिया की आँच उनके वैचारिक संवेदन को झुलसा देती है और समाज की विद्रूपता उनके व्यक्तित्व को इस तरह ग्रसित कर लेती हैं कि वे वैचारिक अधिवास के कोने में चरम मानसिक उधेड़बुन के साथ विक्षेपित हो जाते हैं।

विलियम बरो ने अपने लेखन को स्पष्ट करते हुए 1965 में एक इंटरव्यू में कहा था "मेरा यह निश्चित अभिमत है कि मैं जो भी कहता हूँ उसे साहित्यिक रूप से लिया जाए, हाँ, लोगों को हमारे समय के सच्चे अपराध बोध से परिचित कराया जा सके। उन्हें चीजों को समझाया जा सके। मेरा सम्पूर्ण कार्य उनके विरूद्ध निर्देशित है जो मूर्खता या उद्देश्य विशेष से प्रेरित होकर इस ग्रह को नष्ट करने या न रहने योग्य बनाने पर तुले हुए हैं। मैं शब्दों एवं विम्बों के जरिए एक्शन निर्मित करने के त्रुटिहीन कौशल से सम्बन्धित हूँ, परंतु विज्ञापन वाले लोगों की तरह बाहर जाकर एक कोका कोला खरीदने की बात नहीं करता, अपितु पाठक की चेतना में एक परिवर्तन पैदा करने की कोशिश करता हूँ। तुम जानते हो, वे मुझसे पूछते हैं यदि मैं रेगिस्तानी द्वीप पर चला जाऊँगा और यह जानते हुए कि कोई भी यह नहीं देख पायेगा कि मैंने क्या लिखा है, क्या तब भी मैं लिखूँगा? मेरा उत्तर तब भी एक प्रभावशाली हाँ ही होगा। मैं साथ के

लिए लिखूँगा। क्योंकि मैं एक काल्पनिक लोक निर्मित कर रहा हूँ, यह सदैव काल्पनिक ही होता है, एक ऐसा विश्व जिसमें मैं जीना चाहूँगा।"[37]

जिस प्रकार प्रत्येक साहित्यिक आंदोलन के कुछ अन्तर्विरोध एवं सीमाएं होती हैं वैसे ही बीट आंदोलन की भी थीं। वे किसी संघटित एवं क्रियात्मक विकल्प के अभाव से ग्रस्त थे, अति व्यक्तिवादी थे तथा प्रक्रिया एवं नीति से इतर मानसिक अंतर्जगत् में भयावह संवेदनात्मक विम्बों के जरिए व्यवस्था का विकल्प खोजने की कोशिश कर रहे थे। किसी वैकल्पिक वैचारिक आधार को खोजने की इनकी असमर्थता ने परवर्ती समय में इनके वैचारिक एवं व्यवहारिक पराक्रम को क्षीण कर दिया। वे साहित्य एवं समाज में किसी वैकल्पिक पुनर्वास की सृष्टि करने में असमर्थता के अभाव में व्यवस्था के विरूद्ध एक खरी एवं तीखी आवाज भर बनकर रह गए जिसने स्वप्न भंग तो करा दिया परन्तु इस भयावह जगत् से बाहर निकलने का रास्ता नहीं सुझाया। चेतना को उसी भयावह परिवेश में छोड़ दिया असुरक्षित, संशयग्रस्त एवं प्रश्नाकुल। यही उनकी विशेषता थी और शायद कमजोरी भी परन्तु इतना तय है कि इन्होंने अमरीकी कविता और विश्व कविता दोनों को संवेदना एवं शिल्प के नये स्रोतों से परिचित कराया, पाठकों की आस्वाद क्षमता को परिवर्तित और पैना किया तथा साहित्य को उस महती जिम्मेदारी की ओर धकेला जहाँ उसे आस्वाद एवं अभिमत दोनों का कार्य करना था, जो उनकी प्राथमिक मांग थी और जिसके लिए उन्होंने जीवन भर संघर्ष किया।

1974 में बीट पीढ़ी के सबसे समर्थ प्रवक्ता एलेन गिंसबर्ग को उनकी पुस्तक 'अमरीका का पतन' के लिए राष्ट्रीय कला एवं लिपि संस्थान की ओर से राष्ट्रीय पुरस्कार प्रदान किया गया। इस अवसर पर उपस्थित जनसमुदाय को सम्बोधित करते हुए उसने कहा '"जेक केरूआक एवं हमारे अन्य साथियों द्वारा घोषित अमरीकी मुक्ति की अब कोई आशा न रही। दशकों पहले हमने परिस्थितियों को जाना फिर जोर–जोर से चिल्लाकर एवं रोकर कद्दिश का गान किया। उसके जरिए उन परिस्थितियों का प्रतिकार किया एवं आत्मिक पश्चाताप किया। अब हमें बस यह करना है कि अपनी चेतना के विस्तृत खाली जगहों से कार्य शुरू करें।''[38] यह एक तरह से बीट जेनरेशन के योगदान एवं समाप्ति की एक साथ घोषणा थी। इसके जरिए सम्पूर्ण बीट पीढ़ी को समझा जा सकता है।

TH-17852

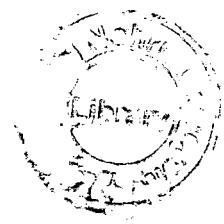

(ख) अकविता का भारतीय परिप्रेक्ष्य : भारत की विभिन्न भाषाओं में भी अकविता के समानान्तर एक समान संवेदनशीलता की अभिव्यंजना दिखलायी पड़ती है। प्रभाकर माचवे ने 13 अगस्त 1972 के 'दी इलस्ट्रटेड वीकली आफ इण्डिया' के 'ट्वेन्टी फाइव इयर्स आफ इण्डिपेण्डेंस' नामक विशेषांक में इस तथ्य को रेखांकित करते हुए लिखा था "विगत दो दशकों की कविता का सामान्य स्वर क्रोध विरोध और प्रतिरोध का है। बंग्ला में 'भूखी पीढ़ी', तेलगू में 'दिगम्बर कविता' (नग्न कविता), मराठी में 'आसो' अथवा 'ए–बी–सी–डी–इ' पीढ़ी, तमिल में 'क–च–ट–प' कविता, पंजाबी में 'मृत्युबोध' और गुजराती में 'रिमाथ' आदि विभिन्न नाम हैं उस एक ही विमुखतवादी कविता (हिन्दी में अकविता) के जो अतीत से अपने को पूर्णतः अलग कर लेना चाहती है। यह सम्भव है अथवा नहीं, यह एक अलग बात है।"[39]

वास्तव में नेहरू युग के अवसान के बाद व्यवस्था से मोहभंग तथा प्रगति एवं समृद्धि के स्वप्नों के अन्त ने इस प्रकार की अखिल भारतीय परिस्थिति को पैदा किया जहाँ व्यवस्था विरोध, परम्परा–निषेध एवं आक्रोश की अभिव्यक्ति साहित्य का मुख्य स्वर हो गया। मैनेजर पाण्डेय ने इस प्रवृत्ति पर विचार करते हुए कहा है "इस तरह से यह एक अखिल भारतीय प्रवृत्ति प्रतीत होती है। काव्यदृष्टि में इस बदलाव के पीछे एक विशेष प्रकार की सामाजिक दृष्टि थी, जो सम्भ्रान्तता और शालीनता की चादर के नीचे झूठ की अश्लीलता छिपाने वाले भद्रलोक की असलियत सामने लाने में दिलचस्पी रखती थी और कविता को अपने उस प्रयोजन का माध्यम समझती थी। वह जीवन और कविता दोनों में पहले से प्रचलित और स्वीकृत सभ्यता के व्याकरण को अस्वीकार करती थी। कविता और जीवन दोनों में वह चीजों को सही नाम से पुकारने का दावा करती थी। इसलिए इसे भद्रलोक के विरोध और तिरस्कार का सामना करनाा पड़ता था।"[40]

फरवरी 1968 के लहर में इस अखिल भारतीय प्रवृत्ति के स्वरूप एवं इसकी उत्पत्ति के कारणों को स्पष्ट करते हुए राजकमल चौधरी ने एक लेख लिखा 'साठोत्तरी पीढ़ी'। इस लेख में उन्होंने इसे सम्पूर्ण वैश्विक परिदृश्य से जोड़ते हुए परिभाषित किया तथा शीतयुद्ध के दौरान विचारधारा के प्रति ईमानदारी के नाम पर हुए अनैतिक राजनीतिक अतिचार एवं बाजार तथा पूंजी के फैलते जाल को इस मूल्यहीनता का कारण माना। विश्व में अपनी सत्ता स्थापित करने की कोशिश में पूंजी एवं स्त्री देह के अनैतिक उपयोग एवं फलस्वरूप उत्पन्न विसंगतिपूर्ण राजनीतिक सामाजिक वातावरण को उन्होंने युवा–मोहभंग का प्रधान कारण मानने के पीछे ठोस तर्क प्रस्तुत किए।

उन्होंने इस परिवेश से उत्पन्न परिस्थितियों पर विचार करते हुए लिखा "1960 तक आते–आते सारी कीमतें बदल गईं हमलोगों ने (जिन्होंने हाल में ही लिखना पढ़ना शुरू किया था) इसे समझा, और हमारे दिमाग में यह बात जमकर बैठ गई कि नई कीमतों की उपेक्षा करके, बैताल की तरह जीवनानन्ददास या अज्ञेय की डाल पर लटके रहने से काम नहीं चलेगा। बंगाली या हिन्दी में ही नहीं कमोबेश सभी भारतीय भाषाओं में नई पीढ़ी के लेखकों में नए मूल्यों की स्थापना की बात उठी।

'"मराठी में अशोक सहानी, बंगाली में मलय राय चौधुरी, असमिया में विमल बरा, उड़िया में उमा महापात्र, उर्दू में बलराज मेनरा, भारतीय साहित्य में ऐसे कई नाम (हिन्दी में एक का नाम, राजकमल चौधरी के अलावा लेना, खतरे से खाली नहीं है) एक साथ उभर आए। 1960 की जनवरी में मलय राय चौधुरी ने लिखा "मैं व्यक्ति ओर समाज, और इनके बारे में लिखे गए साहित्य के समस्त मूल्यों को अस्वीकार करता हूँ, क्योंकि रवीन्द्रनाथ की समाधि पर राजनीतिक मंत्रालयों के वेश्यागृह चालू कर दिए गए हैं।''[41]

इन समस्त काव्यआंदोलनों से अकविता का प्रत्यक्ष सम्बन्ध था कि नहीं यह अभी तक स्पष्ट नहीं हो सका है परन्तु बंगाल की भूखी पीढ़ी के कवियों से हिन्दी की अकविता प्रभावित अवश्य हुई। स्वयं राजकमल चौधरी बहुत दिनों तक बंगाल रहे थे। बनारस से प्रकाशित जनवरी 1965 के मराल के बंग्ला नवलेखन विशेषांक का सम्पादन राजकमल चौधरी ने कंचन कुमार के प्रच्छन्न नाम से किया था। यह अंक मुख्यतः भूखी पीढ़ी पर ही आधारित था। इसके संपादकीय 'एबार अदिति आमि' में राजकमल ने भूखी पीढ़ी के उदय के ऐतिहासिक कारणों पर प्रकाश डालते हुए लिखा "होश संभालने के बाद एशिया के इस दूसरे सबसे बड़े शहर के लड़कों ने विश्वविद्यालय, शेयर बाजार, कालीघाट मंदिर, राइटर्स बिल्डिंग, घर में और बाजार में हर जगह मूल्य पतन देखा। हर तरफ भूख। हर तरफ भूख की आग बुझाने के लिए हजारों हजार गैरसरकारी दमकल। जिनमें पानी नहीं, अनाज, शिक्षा, संस्कृति, पेटेंट दवाएं, अमरीकी गेहूँ, रूसी ट्रैक्टर, दार्शनिक भाग्यवाद, तिरंगा झंडा, कहीं कुछ नहीं सिर्फ भूख की आग के शोले। अक्ल पर उकडू बैठे हुए 'बाक्स आफिस' लेखक निरामिष पाठ्यपुस्तकें और विवाहित आनंद लिखते हैं। ग्रांटलेन में चाइनीज शराब साठ पैसों की एक बोतल। सत्रह प्राणियों के पूरे परिवार के साथ एकमात्र कमरे में सोया हुआ बूढ़ा बाप रात भर अपनी बेटी और पतोहू के साथ खाँसता रहता है। कविताओं में अब भी

गुलाब और बर्फीली चाँदनी। जिंदगी एक लगातार नाटक है आदमी साठ रूपये तनख्वाह पाने वाला एक्स्ट्रा अभिनेता। आदमी और क्या होगा? और क्या हो सकता है?

"अपनी बेरोजगारी से, अपने रोजगार से बीमार नौजवान नींद में डरते हैं और हविस ने जिंदगी को कितना अश्लील और कितना वीभत्स कर दिया है। सबसे बड़ी वीभत्सता है, आर्ट और खूबसूरती की सिफारिश करना। सबसे बड़ी अश्लीलता है मूर्खों और अपाहिजों की यह डेमोक्रेसी। आँखों से रोशनी गायब हो चुकी है। हर चेहरे पर चमकते हुए रंगो की नकाब। अपने बीवियों के मासिकधर्म की तारीखें गिनता हुआ आदमी क्यों जिंदा है?

"जीने में अथवा मर जाने में कहीं कोई संगीत नहीं, सौंदर्य नहीं। अव्यवस्था, पापाचार। सर्पदंश। घृणा। रक्त, मांस। पिपासा। क्षुधा। अकारण। होश संभालने के बाद इस शहर, और इस जुबान, और इस शब्द व्यवस्था के लड़कों ने देखा शरच्चंद्र और रवीन्द्रनाथ दोनों ने एक साथ आत्महत्या कर ली है। अपनी कब्रगाह से निकलकर ईश्वर हर तरफ पीब और सड़े हुए गोश्त के टुकड़े उगल रहा है। बाद में मसखरों और नकल नवीसों की एक लम्बी कतार भी आयी है। लेकिन ईश्वर को राजगद्दी वापस नहीं मिली। दफ्तरों दुकानों के दरबानों ने जूते मारकर कविता को शहर से बाहर निकाल दिया प्रेमचंद बड़ाल स्ट्रीट और बुद्धिजीवियों के काफी हाउस दोनों में एकांत। आन्तरिकता नहीं है। मूल्य भी कहीं नहीं है, न जीवन में, न अतीत और भविष्य के स्वप्नों में। स्वप्न की राजकन्याओं को गर्भ भ्रष्ट करके अंधी बिल्लियाँ और विकराल चमगादड़ धर्मयुद्ध करते हैं। आदमी अपनी लाश के अंदर सोया रहता है। सोया रह जाएगा।

"'अपने चेहरे से आर्ट एवं डेमोक्रेसी की नकाब उतार फेंको बंग्ला नवलेखन विशेषांक की इन अनुदित रचनाओं का मूल स्वर यही है।"[42]

भूखी पीढ़ी के प्रमुख कवि थे मलय राय चौधुरी, उत्पल कुमार बसु, सुविमल बसाक, संदीपन चट्टोपाध्याय, विनय मजूमदार, वासुदेव दास, सुभाष गुप्त, समीर राय चौधुरी, कविता सिंह आदि। शक्ति चट्टोपाध्याय को इस पीढ़ी का अग्रदूत माना जाता है यद्यपि बाद में इन्होंने अपने आप क्को इससे अलग कर लिया। सुनील गंगोपाध्याय की कविताओं में भी कुछ ऐसी प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं जो उन्हें भूखी पीढ़ी के निकट लाकर खड़ी कर देती हैं परन्तु वे औपचारिक रूप से कभी भी इन

कवियों की जमात में शामिल नहीं रहे। ये सभी कवि अमरीका की बीट पीढ़ी से प्रभावित थे और कुछ का तो एलेन गिंसबर्ग से लगातार व्यक्तिगत सम्बन्ध भी रहा।

ये सभी कवि अपने समय एवं समाज से क्षुब्ध है, इनका व्यक्तित्व अपनी सम्पूर्ण विशेषताओं के साथ उसकी पारंपरिक चौहद्दी में अट नहीं पाता क्योंकि जिन वैचारिक प्रतिमानों के आधार पर इस चौहद्दी का निर्माण किया गया है और जिन व्यवहारिक प्रक्रियाओं की यह मांग करती हैं उससे ये काफी दूर निकल चुके हैं तथा उसकी परिधि को काफी पहले तोड़ चुके हैं। इनके पास नए विचार हैं और नयी व्यावहारिक प्रक्रियाएँ। ये इनके निजी चिंतन एवं अनुभव की उपज हैं। ये सामाजिक प्रक्रियाओं के आधार पर स्वयं को निर्धारित नहीं करते, न ही उसके मानदण्डों पर स्वयं को कसते हैं अपितु ये स्वयं को समाज से बाहर रखकर खुद के बनाये मापदण्डों पर सम्पूर्ण समाज एवं व्यवस्था को परखते हैं और जब उन्हें ये सब नियम कानून अपर्याप्त एवं बेकार के मालूम पड़ते हैं तो ये पलटकर उसपर भयंकर प्रत्याक्रमण करते हैं। इस प्रत्याक्रमण में ये निर्जीव नैतिकता का लोभ छोड़कर सजीव अनुभूति का प्रयोग करते हैं, चाहे वह अनुभूति पूर्णतः अनैतिक ही क्यों न हो क्योंकि नैतिकता इनके लिए सिद्धांत की नहीं व्यवहार की चीज है, और उन्हें लगता है कि व्यवहार में इस परम्परागत नैतिकता का अब कोई खास अर्थ नहीं रह गया है। इसलिए ठोस अनुभूतियों से प्राप्त नग्न यथार्थ के काव्यात्मक चित्रण द्वारा ये व्यवस्था की नग्नता एवं अनैतिकता पर पड़े शास्त्रीय एवं पारंपरिक आवरणों को उठाना चाहते हें जिससे वह वास्तविक विद्रूप दिख सके जिसको छिपाकर नैतिकता का झूठा स्वाँग भरा जा रहा है। ऐसा करते समय वे नैतिकता की पारंपरिक अवधारणा से तो अत्यन्त अनैतिक प्रतीत होते हैं परन्तु स्वयं के द्वारा बनायी गयी नैतिकता की अवधारणा के प्रति अत्यंत ईमानदार एवं सच्चे प्रतीत होते हैं। "अपने चेहरे से नकाब उतार फेंकिए और अपना असली चेहरा लेकर समाज के सामने उपस्थित रहिए ये रचनाकार यही चाहते हैं। गलत शब्दों की नकाब, गलत जीवन दर्शन, गलत मानव मूल्य, गलत भाषण और गलत विचारों की नकाब ये लोग समाज के हर आदमी के चेहरे से, कला और साहित्य के चेहरे से उतार फेंकना चाहते हैं।"[43]

यह बात इनके घोषणा पत्र से और स्पष्ट हो जाती है। घोषणा पत्र इस प्रकार है–

1. हम सब लाज़मी तौर पर बेईमान हैं।

2. पति पत्नी के रिश्ते एक घातक रवायत हैं और जिस्मी ताल्लुकात पाक दोस्ती है।
3. माँ शब्द जन्म देने का बोधक है और जन्माना कोई एहसान नहीं इसलिए माँ को माँ नहीं दीदी कहना ज्यादा वाजिब होगा।
4. बचपन के कच्चे रोमांस की कविताएं, छुटपने में जगह–जगह टट्टी –पेशाब करने और कच्ची मिट्टी की आदतों जैसी हैं, बड़े होकर इन आदतों को दुहराना कोई अकलमंदी की बात नहीं।
5. लेखन हमारे लिए मिशन और ऑक्सीजन है, महज तिलक या यज्ञोपवीत नहीं प्रत्युत शरीर की खाल है। कविता लिखना अपनी खाल खिंचावने से भी ज्यादा त्रासद है।
6. हम केवल रोजाना वेतन पाने की शर्त पर ही नौकरी करेंगे। बीमा और पेंशन हमारे लिए निरर्थक है। जेल अस्पताल, पागलखाना, श्मशान, हमारे मनोरंजन गृह होंगे।
7. हमें बेपरदा जीवन पसंद है। इसीलिए दरवाजों पर पर्दे लटकाने की बजाए हम उनकी बुशर्ट सिलवा लेंगे क्योंकि पर्दे ऐय्याशी का साधन हैं।"[44]

यह अकारण नहीं है कि तत्कालीन तथाकथित भद्र समाज ने इनकी कविताओं पर अनैतिकता एवं अश्लीलता का आरोप लगाकर इनके खिलाफ कानूनी कार्यवाही की। "मलय राय चौधुरी को मालूम है इतिहास नाम की कोई चीज नहीं है, ईश्वर मांस का एक टुकड़ा है, अपने व्यक्तित्व के साथ अपनी आत्मा का संयोग स्थापन ही शिल्प है। डेथ गुरूत्व हीन है और मात्र विनाश (एनिहिलेशन) ही एक प्रचंड प्रश्न (समस्या) है। चरम (अल्टिमेट) को केंद्रित करके ही साहित्य जीवित रहता है। निकटतम (प्राक्जिमेंट) के इर्द गिर्द चक्कर काटकर नहीं।"[45] "वासुदेव दास गुप्त कहता है, इस धरती पर फैली हवा में साँस लेने में उसे भयानक कष्ट होता है अतएव, वह अपने द्वारा रची गयी स्वाधीन धरती पर रहना चाहता है जहाँ उसने हवा और आसमान को भी खुद ही बनाया हो।"[46]

सुविमल बसाक ने अगस्त 1964 के हंग्री जेनरेशन में लिखा "प्रत्येक कार्य के प्रति अनिच्छा, प्रत्येक वस्तु से घृणा, प्राणों में प्रतिक्षण विराग क्यों हम लोग साधारण नहीं हो पाते? बाकी सारी दुनिया तो शांत और सुखी है साधारण जीवन चर्या के रास्ते पर चलती हुई दुनिया खुश है। पत्नी के लिए प्यार बच्चों के लिए स्नेह, माता पिता के

लिए श्रद्धा और अन्याय उपकरणों के सहयोग से ये सारे लोग जीवन का उपयोग कर रहे हैं। विराग, वितृष्णा, अनिच्छा, क्रोध, घृणा यह सब केवल हमलोगों के मन में ही क्यों है? पूजा पाठ करना हम भूल गए हैं। अपनी–अपनी पीठ के दाग सहलाते रहते हैं और कभी–कभी अवसर पाते ही विक्षिप्त होकर अपनी 24,25,26,27,28 सालों की आग सीने में लिए काफी हाउस से बाहर भागकर यहाँ–वहाँ, वेलिंगटन, चौरंगी, फ्री–स्कूल स्ट्रीट इत्यादि–इत्यादि स्थानों पर अपना झंडा और अपना कफन फहराते हुए घूमते रहते हैं। शरीर के साथ मन को हृदय के साथ दिमाग को बांध नहीं पाते हैं। आंतरिक व्यक्तित्व में विस्फोट होता है फिर भी घूमते रहना हम बंद नहीं करते।"[47]

व्यवस्था के दबावों से त्रस्त एवं समय की विभीषिका से ग्रस्त भूखी पीढ़ी के ये कवि लगातार भयंकर मानसिक उद्वेलन से गुजरते हैं। यह उद्वेलन उन्हें पलायित नहीं करता अपितु लगातर उनके मनोजगत में संवेदना के स्तर पर उन्हें हाँट करता है, वे कुछ क्षण रूक कर उसे समझना चाहते हैं, उसे देखना चाहते हैं और चाहते हैं उससे बाहर निकलना एक विस्फोटक विकल्प के साथ। वे समय की विद्रूपता, उसकी असंवेदनशीलता एवं अमानवीय प्रक्रियाओं को स्पष्ट रूप से परिभाषित करना चाहते हैं, चाहते हैं उसे इस हद तक बेपर्दा कर देना कि देखने वाला जुगुप्सित हो जाए एवं शायद यह जुगुप्सा यह घृणा ही आधारभूत चिंतन की वह ऊर्जा दे जिससे इस अमानवीय समय को तथा कलुषित समाज को बदला जा सके–

जैसे खिड़कियां टूट जायेंगी, इतनी तेजी से
मुझे अपने आलिंगन में भर कर
गर्म सलाखों से दाग कर मेरी छाती, बार–बार
चला गया समय। और अब प्रतिक्षण
बँधे हुए पागल घोड़े की तरह पदचाप
हर खिड़की के नीचे पत्थर पर बजती रहती है।[48]

शक्ति चट्टोपाध्याय की उपर्युक्त कविता समय को स्त्री की देह के रूपक से समझने की कोशिश करती है। हिन्दी की अकविता से ज्यादा स्त्री देह से सम्बन्धित बिम्बों एवं रूपकों का इस्तेमाल भूखी पीढ़ी के कवियों ने किया है। उपर्युक्त कविता में प्रस्तुत आक्रामक यौन क्रिया का सीधा–सीधा सम्बन्ध अनैच्छिक या एकपक्षीय सेक्स (दूसरे शब्दों में कहें तो बलात्कार) से है। जैसे किसी स्त्री के साथ उसकी इच्छा के खिलाफ किया गया सेक्स उसे भयंकर संवेदनात्मक व्यतिरेक एवं गहरे मानसिक अवसाद

की स्थिति में लाकर खड़ा कर देता है और उसे पूर्णरूपेण असंतुलित कर देता है ठीक उसी तरह समय ने कवि (साठोत्तरी युवा) के मनोजगत् के साथ, उसके स्वप्नों, उसकी आशाओं–आकांक्षाओं के साथ लगातार व्यवस्थाजन्य एवं तन्त्रप्रेरित बलात्कार किया है फलतः वह अवसाद एवं स्मृतिभ्रम का शिकार होकर मानसिक असंतुलन की अवस्था में पहुँच गया है।

इस अवस्था में वह सारे स्थापित मानदण्डों को शक की नजर से देखता है, उन्हें समाप्त करना चाहता है क्योंकि उसके मानसिक संघात के लिए ये सब दोषी हैं। मलय राय चौधुरी की प्रसिद्ध लम्बी कविता 'जख्म' का आरम्भ ही इन पंक्तियों से होता है –

शामियाने में आग लगाकर
उसके नीचे लेटकर अब आकाश में उड़ता हुआ नीलापन देख रहा हूँ
दुखदर्द की सुनवाई स्थगित रख
मैं अपने सारे शक से जिरह कर रहा हूँ।[19]

'शामियाना' यहाँ पर उन स्थापित मानदण्डों का प्रतीक है जिसके अनुसार कवि ने अभी तक की अपनी जिंदगी काटी है, परंतु उससे दुःखित एवं क्रोधित होकर वह उसमें आग लगा देता है अर्थात् उसे छोड़ देता है, नष्ट कर देता है। उससे अलग हेकर वह अब अपने आपको और साथ ही साथ दूसरों को भी समझने की कोशिश कर रहा है परन्तु सर्वथा नए प्रतिमानों के साथ। भावुकता एवं नैतिकता दोनों को कुछ देर के लिए छोड़कर वह बौद्धिकता का दामन थामता है चीजों को देखने समझने एवं परखने के लिए। यहाँ पर वह व्यवस्था के खिलाफ तो दीखता है परन्तु अभी वह उसको समझने की भी कोशिश कर रहा है, खिलाफत व्यवस्था की अभी उतनी नहीं जितनी कवि की समझ पर उसके हावी होने की कोशिश से है।

परन्तु जैसे–जैसे कविता आगे बढ़ती है, व्यवस्था की परतों में छिपी गन्दगी सामने आती जाती है और कविता की भाषा भी उतनी ही आक्रामक होती जाती है। असंगतियों एवं विडम्बनाओं से ग्रस्त समाज व्यवस्था के खिलाफ मलय की आत्मा संवेदनात्मक विद्रोह कर देती हैं सम्पूर्ण परिवेश ही दारूण एवं विद्रूप नजर आता है–

बादलों के आस–पास उड़े जाते हैं फेंके हुए खून से सने चिथड़े

हृत्पिण्ड की हलकी सी कँपकपी से सिहरता नीला का बाँया बीमार स्तन
अब मुझे याद आ रहा है
मरने के दिन तक मुँह बन्द किये जीवन की लथाड़ सहनी पड़ती है अब मेरे
हृदमशीन की जगह एक जलता हुआ मेण्टल झूल रहा है।[50]

इस विषम परिवेश में उसे हृदय एवं उसकी भावनाओं का कोई महत्व नहीं नजर आता सब कुछ अपवित्र एवं कलुषित सा हो गया है। ऐसे में यदि हृदय जलता हुआ मेण्टल हो जाए तो आश्चर्य कैसा। ऐसे व्यर्थ एवं अस्तित्वहीन समय में उसे अपनी पहचान, अस्मिता एवं अस्तित्व अपरिभाषित एवं अस्पष्ट से नजर आते हैं, जीवन उसे अर्थहीन–सा लगने लगता है –

मैं गलत गर्भ से निकलकर गलत नाम लटकाये 25 साल तक भटकता रहा
अब मैं खुद ही सब कुछ जाँच पड़ताल करके देखना चाहता हूँ।
किसे विष और किसे मलय राय चौधुरी कहते हैं।[51]

यह 25 साल स्वयं कवि का जीवन चक्र तो है ही साथ ही साथ स्वतंत्र भारत का भी जीवन चक्र है। उसे ऐसा लगता है जैसे आजादी जिन शर्तों एवं जिन अर्थों पर मिलीं वह सब कुछ खोता जा रहा है। गलत गर्भ से तात्पर्य यहाँ सत्ता के सुविधा संगत हस्तांतरण से है जहाँ वास्तविक जन नायकों की अवहेलना करके अभिजन के नायकों को सत्ता दे दी गयी जिनको जनसमस्याओं एवं जमीनी हकीकतों की समझ नहीं थी फलतः नीतियों का क्रियान्वयन उचित आधारभूत तथ्यों की अवहेलना करके किया गया। इसलिए उसे लगता है कि वह 25 साल आजादी रूपी गलत नाम लटकाये घूमता रहता क्योंकि राजनैतिक स्वतंत्रता उसे भले मिल गयी हो परंतु नीति निर्धारण में उसकी अर्थात् आम जनता के हितों की चिंता एवं विचारों की भागीदारी न के बराबर रही। इसलिए वह अब सुने सुनाये प्रतिमानों पर विश्वास नहीं करना चाहता अपितु स्वयं ही व्यवस्था की शल्य क्रिया करना चाहता है। वह आगे कहता है–

मैं अपने ही घर की तलाश में
25 साल तक रास्ते में मारा मारा फिरा
आबादीहीन सीलनदार गलियों की फर्श पर बिछे
अनगनित सफेद तकियों को लाँघते हुए मैं आगे बढ़ रहा हूँ
चौंरगी के खम्भों पर पीठ टेककर खड़े होने की जगह के लिए

रंग बिरंगी वेश्याएँ छीना–झपटी कर रही हैं।[52]

इन 25 सालों में उसे अपना घर नहीं मिला अर्थात जिस आशा एवं स्वप्न के साथ आजादी के बाद देश की यात्रा शुरू हुई थी वे सारे सपने भंग हो गये। अब तो इन गलियों की, अर्थात् जिन रास्तों पर देश चल रहा है की स्थिति यह है कि अनैतिक एवं अनुत्तरदायी लोगों के बीच सत्ता की छीना झपटी हो रही है।

सन् 1962 के चीनी आक्रमण ने समस्त भारत को जोरदार झटका दिया। महानता एवं शक्ति का दंभ एकाएक चकनाचूर हो गया। सुन्दर सपनों का अरूण मधुमय देश जहाँ अनजान क्षितिज को भी सहारा मिलता था स्वयं आधारहीन एवं बेसहारा सा लगने लगा था मलय राय चौधुरी की कविता उस स्थिति को व्यक्त करती है–

अब मैं चुपचाप सोच रहा हूँ मुझे लेकर क्या किया जाए
6000 वर्ष की पालिश लगी हुई संकटकालीन क्रूरता मुझे विरासत में
मिली है
चमड़े का पुराना पलस्तर उधेड़कर
मैं आदमी की बोधहीनता निकालकर फेंक दे रहा हूँ।

ग्रीज से सने 303 कारतूस शरीर के अंग और उपांगो के लोभ से
देवदार के नये बक्से में बन्द होकर देश–विदेश की सरहदों तक चले जाते हैं
बुद्ध के 2510 साल बाद पुलिस और गैरपुलिसों के बीच हुई मारपीट में
गांधी मैदान में बिखरे पड़े हैं इस्तेमाल हुए 1965 मॉडल के
जूते–छाते
कोकिन और जाली नोट की आढ़त में
भारत और चीन के नागरिक बड़े मजे से एक साथ लेटे रहते हैं।[53]

मलय की यह कविता, व्यवस्था परिवेश एवं स्थितियों को व्यतिरेक के स्तर पर उभारती है। व्यक्ति के मानवता बोध के स्खलन पर चिंतित होती है, गांधी एवं बुद्ध के देश में हिंसा एवं मौत के ताण्डव पर व्यंग्यात्मक अट्टहास करती है तथा नागरिकों के कर्तव्य तथा अधिकार के बीच के विडंबनात्मक तनाव को उभारती है। विचारधारा से मोहभंग के फलस्वरूप मलय को सम्पूर्ण परिवेश अराजक एवं अब तक की उसकी सम्पूर्ण सुविधाजनक समझ बेकार सी मालूम पड़ती है–

गलत इच्छा से पाया है गलत द्वेष
गलत सुख गलत दुःख पाकर मिजाज बिगड़ गया
मैंने गलत संघर्ष से गलत चेतना इकट्ठी की
आह यह गलत कलकता ये गलत स्त्री पुरूष
गलत दम्भ में मैंने गलत हिंसा को जन्म दिया।[54]

वास्तव में जख्म कविता स्वतंत्रता के समय देखे एवं दिखाए गए स्वप्नों के भंग का अराजक दस्तावेज हैं जिसमें कवि उन सभी मापदण्डों एवं प्रतिमानों को तोड़ देना चाहता है जो इस स्वप्न भंग के लिए उत्तरदायी हैं। ऐसा करते समय वह व्यवस्था की कुरूपता एवं दयनीयता को भी दिखाता चलता है ताकि वह आधार स्पष्ट हो सके कि अगर वह विद्रोही है, अरांजक है, निहिलिस्ट हैं, समस्याग्रस्त है तो क्यों हैं। परम्परा विद्रोह एवं प्रचलित मूल्यों के परित्याग की वह खुले शब्दों में घोषणा करता है–

मनुष्यों ने मुझे जो कुछ भी सिखाया
उन सबको मैं भूलने की कोशिश कर रहा हूँ।[55]
क्योंकि भूलना ही श्रेयस्कर है, याद करने से कोई फायदा नहीं रहा –
मेरे सामने का सारा दृश्य लिपपुत गया है देख रहा हूँ
किसी के साथ मेरा मेल नहीं बैठ रहा है
मुझे देर हो रही हैं
मेरी जीभ अपनी भाषा भूलती जा रही है।[56]

भूखी पीढ़ी के कवियों के लेखन में परंपरा से विद्रोह का सर्वप्रमुख क्षेत्र है यौन विषयक क्षेत्र। वे सभी पारंपरिक सामाजिक प्रतिमानों से इतर यौन नैतिकता की नयी परिभाषा सामने रखते हैं तथा पारंपरिक साहित्यिक आस्वाद से हटकर कविता में उसे बिल्कुल अलग ढंग से प्रस्तुत करते हैं। बिल्कुल स्पष्ट, खुली एवं नग्न भाषा के प्रयोग के जरिए ये साहित्य एवं समाज में यौनिकता की नयी धारणा को बनाते बनाते यौन अराजकता के क्षेत्र में प्रवेश कर जाते हैं।

विद्यानन्द चौधुरी की 'वास्तव' कविता की ये पंक्तियाँ देखिए–

प्रेम, प्यार–यह सब मिथ्या है
सत्य हो केवल तुम, और तुम्हारे देह का उत्ताप।

तुम्हारे देह के निन्यानवे डिग्री उत्ताप में
मैं गला जाता हूँ, झड़ा जाता हूँ
मिटती जाती है हमारी सारी अनुभूति
आँखों के सामने चमकता है केवल
एक अदद नरम मांसपिंड।
मेरी आँखों में उतर आता है स्वप्न।[57]

वास्तव में यौन नैतिकता किसी भी समाज–व्यवस्था की प्राथमिक व्यवस्थागत शर्त होती है और आधारभूत नैतिक विचार। पारंपरिक समाज बोध के प्रति वितृष्णा तथा उससे बाहर निकलने की वैचारिक ज़द्दोजहद एवं छटपटाहट इन कवियों को आक्रामक यौन भाषा की ओर खींचती है। इसके जरिए वे अश्लीलता को व्यवस्था विरोध में अपना प्रमुख हथियार बना लेते हैं। सेक्स के वर्जनीय क्षेत्र में पहुँचकर ये उन समस्त वर्जनीय क्षेत्रों में खुलकर खेलना चाहते हैं, उनको उघाड़ना चाहते हैं जो उनकी दृष्टि में उचित है। संदीपन चट्टोपाध्याय अपनी 'वेश्या' नामक कविता में व्यवस्था की अभिव्यक्ति एवं अनुभूति के बीच की खाई को पाटने की कोशिश करते हैं, तथा दिखाना चाहते हैं तथाकथित सभ्य समाज का वह चेहरा जो पारंपरिक धारणाओं के चलते ही नैतिक बना हुआ है वरना अगर ठीक से देखें तो वह भी कम अनैतिक नहीं, अपितु कहीं–कहीं तो उससे भी ज्यादा है जिसको वह अनैतिक कहता है –

जब ग्राहक उसे नंगा कर देता है, वह छन भर विरक्त होती है,
फिर, हो जाती है सहज–सरल (पिछले पाँव बाध दी गयी गाय जैसी)
लेकिन आदमी खुद नंगा नहीं होना चाहता।
रोशनी बुझने तक,
बनियान या कम से कम अण्डरवियर पहने रहता है। वह
देखता है वेश्या का नंगापन,
उसे अपना देखने देना नहीं चाहता। उसके बाद हैं,
कुछ ऐसे भीतरी नियम कानून,
जिसका पालन करती है वेश्याएं, जिससे
काम के वक्त उसकी रखवाली करे शैतान, या ईश्वर
कि वह मरे नहीं, बीमार न हो। [58]

भूखी पीढ़ी के इन कवियों की ऊर्जा अत्यन्त उन्माद से परिपूर्ण है, इनकी कविताओं के विम्ब अत्यन्त ही अश्लील हैं। परन्तु इनके लिए अश्लीलता कोई सरस उत्पाद नहीं है, अपितु जैसा कि इनकी कविताओं के अर्थ की समग्रता से व्यंजित होता है, घटिया अस्तित्व के विरूद्ध एक प्रकार का विद्रोह है। अश्लीलता इन कवियों की कविता में उत्पन्न वह 'स्वाभाविक' लय है जो निराशा की उपज है। ये मस्तिष्क एवं आत्मा के इस बलात्कार के विरूद्ध इस न्यूड भाषा में बोलते हैं जो हमारी सभ्यता के विक्षिप्त एवं दोषपूर्ण होने को तो व्यक्त करता ही है साथ ही साथ इन कवियों के विचार में अनिवार्य आवश्यकता भी है। अश्लीलता इन कवियों के लिए हर ईमानदार मनुष्य का उस व्यवस्था एवं समाज के खिलाफ क्रोधपूर्ण एवं विस्फोटक व्यक्तव्य है जिसने उन्हें घोर यंत्रणा दी है। इनके लिए अश्लीलता वह नैतिक अस्त्र है जिसके जरिए वे शक्ति के उस भ्रष्ट एवं कुरूप उपयोग के उपर आक्रमण करते हैं जो उनके बीमारू समय की विशेषता है तथा इसके जरिए वे उन समस्त लोगों एवं विचारों का बलपूर्वक तिरस्कार करते हैं जो इनके जीवन को प्रतिबन्धित एवं मर्यादित करना चाहते हैं। वे इस व्यवस्था की मर्यादा में जीते–जीते तंग आ चुके हैं, अब उसमें बंधे नहीं रहना चाहते इसलिए भयंकर अश्लील वक्तव्य जारी करते हैं ताकि उसकी आँच में ये बंधन पिघल जाऐ और वे वैसा जीवन जी सकें जैसा वे चाहते हैं।

वैसे भी जीवन का अब उनके लिए कोई खास अर्थ एवं महत्व नहीं रह गया है। परिस्थिति से उत्पन्न भयंकर मानसिक व्याघात ने उन्हें कुण्ठित कर दिया है। यह कुंठा एवं संत्रास उन्हें अकेले ही भोगना है क्योंकि अपनी जीवन दृष्टि में वे अकेले ही हैं कोई इस दृष्टि को अपनाने के लिए तैयार नहीं है। यही कारण है कि अजनबीपन की अवस्था से गुजरते–गुजरते ये मानसिक एवं बौद्धिक विखण्डन की उस अवस्था में पहुँच जाते हैं जहाँ इन्हें अस्तित्व निरर्थक एवं मृत्यु सार्थक नजर आने लगती है। यह व्यक्ति का व्यवस्थाजन्य निराशावादी पलायन है जो उसे मृत्यु बोध एवं निरर्थकता के ऐब्सर्ड दर्शन तक ले आता है। विनय मजूमदार की एक कविता है, जिसका नाम है 'पहली कविता'। उन्हें इस कविता में सब कुछ निराशाजनक एवं समस्याग्रस्त ही दिखाई देता है। परन्तु इस निराशा के भी गहरे सामाजिक निहितार्थ हैं जिनका स्पष्ट रूप से जुड़ाव साठोत्तरी मोहभंग से है–

कभी मुझे लगा था,
कि हीरे की चमकती हुई आँखों से,

स्वयं को प्रतिविम्बित देख रहा हूँ – अब,
जागृत वासना की स्थिति में भी
नहीं देख पाता हूँ विकसे हुए, कसे हुए फूल।
क्यों देखूँ? मानसी बताओं, क्यों?
लगता है चांदनी नहीं है, अंधेरा मुँह बाये है,
और, चारों ओर काली दरारें खिलखिला रही हैं,
और, मैं एक अबोध शिशु,
किसी वृद्धा की गोद में छिपा, सुन रहा हूँ
प्रेतों की कहानियाँ। [59]

मलय राय चौधुरी कहता है –

मैं सब कुछ तोड़ दूँगा नष्ट कर दूँगा सुभा को मेरी भूख में खींच लाऊँगा उन्नति के साथ सुभा को देना ही होगा आह मलय
कलकत्ता आज नम और चिकने अंगों के एक जूलूस की तरह दीख रहा है
पर मुझे नहीं पता कि अब मैं अपने आप के साथ क्या करूँ
मेरे पुनः इकठ्ठा होने की क्षमता क्षीण होती जा रही है
छोड़ो, मुझे बढ़ने दो अकेले ही मृत्यु की तरफ। [60]

मलय का यह मृत्युबोध उसे अपने आज तक के सम्पूर्ण जीवन पर प्रश्न करने उसे सोचने एवं दुत्कारने पर बाध्य करता है। वह जन्म से लेकर अब तक के सम्पूर्ण समय के बीच अपने अस्तित्व को समझना चाहता है। पूरे साहस एवं समर्पण के साथ वह स्व एवं पर के बीच के वैचारिक भ्रम को तोड़ने एवं समझने की कोशिश करता है। इसके साथ ही वह अपनी समझ को भी पुनः संयोजित करना चाहता है, उसे उन समस्त प्रश्नों के जवाब चाहिए जो उसके स्व ने व्यवस्था से पूछे हैं और जिनके उत्तर की प्रतीक्षा एवं अभी तक उनके न मिलने की निराशा ने उसे इस विखण्डित मनोदशा में ला खड़ा किया है जहाँ उसे मृत्यु के अलावा इस दुःखी समय से पार पाने का कोई विकल्प दिखायी नहीं देता–

मुझे अभी भी वो तीक्ष्ण धार वाली चमक याद है जब मैं पैदा हुआ था
मैं यहाँ मरने से पहले अपनी खुद की मृत्यु देखना चाहता हूँ
दुनिया को मलय राय चौधरी से कोई मतलब न था

सुभा मुझे थोड़ी देर के लिए सोने दो अपने आक्रामक चिकने यूरेटस में
मुझे शांति दो शुभा मुझे शांति प्रदान करो
धो लेने दो मेरे पापी कंकाल को तुम्हारी मौसमी रक्तधार में
मुझे उत्पन्न करने दो खुद को तुम्हारी कोख में अपने ही वीर्य से
क्या मैं ऐसा ही होता अगर मेरे माता पिता कोई और होते?
क्या मेरे जैसा ही कोई दूसरा मलय संभव होता एकदम अलग वीर्य से?
क्या मैं मलय ही होता अगर मेरे पिता की दूसरी औरत के कोख से जन्म लेता?
क्या मैं खुद को अपने मरे भाई के तरह का पेशेवर भद्रजन बना सकता था
बिना तुम्हारे शुभा?
आह, उत्तर कोई तो इसका उत्तर दो।[61]

स्पष्ट है कि कवि किसी भी मूल्य को नहीं मानना चाहता। उसे स्वयं के स्वत्व से भी शिकायत है और इसके जरिए शिकायत है सम्पूर्ण व्यवस्था के अस्तित्व से। इस मूल्यहीन एवं एब्सर्ड समय से दुःखित होकर वह उन समस्त, पहचान चिन्हों को प्रश्नांकित कर देना चाहता है जो व्यवस्था ने उसे दिए हैं। बेतरतीब प्रश्नों की बौछार से वह स्व के अस्तित्व को निरर्थक बताकर एक तरह से मानवीय मूल्यों के ह्रास पर करूण विलाप करता है। भूखी पीढ़ी के कवियों में पाया जाने वाला यह निराशाजनक, अराजकतावाद उन्हें एक तरफ अस्तित्ववाद तो दूसरी तरफ बौद्धधर्म के शून्यवादी दर्शन के नजदीक लाकर खड़ा कर देता है। डॉ. विप्लव चक्रवर्ती के शब्दों में "अराजकता एवं विद्रोह इन कवियों की कविता के प्रमुख तत्व थे। उन्होंने अपने स्वयं के दार्शनिक विश्वासों के आधार पर भूख को परिभाषित किया। वे जीवन के सम्पूर्ण अर्थ को खोजने के लिए कटिबद्ध थे। उनके अनुसार मानवीय अस्तित्व अपनी सम्पूर्णता से विलगित विच्छिन्न एवं अपूर्ण है। पराभौतिक शून्य का बोध इन कवियों को लगातार परेशान करता है। अस्तित्व इनके लिए एक ऐसा निर्वात है जो अभी भरा नहीं है। इन कवियों के लिए भूख की संकल्पना सम्पूर्ण अभाव की अनुभूति के अस्तित्व पर निर्भर है जिसको ये मेटाफिजिकिल ओमनिवर्सनेस पर आधारित मानते हैं। इस प्रकार इनकी विचारधारा ऐसी है जैसे तेज भूख लगने पर सब कुछ तेजी से निगलना, यह भ्रमात्मक सम्पूर्णता को प्राप्त करने के लिए किया जाने वाला लम्बा इंतजार है। यह प्रत्यय बौद्धधर्म के शून्यवादी दर्शन से साम्य रखता है।"[62]

वास्तव में भूखी पीढ़ी की कविता का जन्म ही व्यवस्था विरोध की मनः स्थिति के विचारधारा विरोध के सिद्धांत में विलयन के फलस्वरूप उत्पन्न साहित्यिक दर्शन से हुआ है। यही कारण है कि ये कवि किसी भी प्रचलित विचारधारा के साथ अपनी संगति नहीं पाते। ये अपनी खुद की विचारधारा के साथ जीना चाहते हैं बिना किसी बाधा–बंधन के। ये जीवन में चरम स्वतंत्रता के हिमायती हैं भले ही वह अराजकता को प्रश्रय दे। विरोध की स्थायी प्रवृत्ति को मूल में लिए हुए ये कवि समस्त स्थापित मान्यताओं के खिलाफ विद्रोह करते हैं उन्हें विकल्प की न तो चिंता है न उसे देने की कोई कोशिश ही इन्होंने की है।

इनकी रचनात्मक ऊर्जा प्रचलित के खिलाफ अराजक बयान उगलती है, उसकी सम्पूर्ण विद्रूपता को स्पष्ट रूप से उजागर करती है तथा नैतिकता के पारंपरिक प्रतिमानों की नवीन यौनिक प्रतिमानों द्वारा अश्लील शल्यक्रिया करती है। ऐसा करते समय ये न किसी दबाव को स्वीकार करते हैं न किसी सीमा को। ये बेहिचक एवं बेतरतीब ढंग से वह सब कहना चाहते हैं, जो ये समझते हैं कि इनको अवश्य कहना चाहिए, चाहे व्यवस्था को अच्छा लगे या बुरा। व्यक्तिगत अनुभूति को काव्यात्मक अभिव्यक्ति बनाने की यह अवधारणा उन्हें 'कॉमन सेन्स' के ऊपर 'ओन सेन्स' को आरोपित करने की खुली छूट देती है। ऐसा करके उन्हें लगता है कि वह उस रचनात्मक ईमानदारी को निबाह रहे हैं जो उनके पहले के कवियों के चिकने शब्दों एवं भावुक आदर्शलोक में खो गयी थी। लगातार खुरदुरे एवं अस्पष्ट शब्दों के प्रयोग द्वारा वे ऐसी अराजक साहित्यभाषा रचते हैं जिसमें भयावह यथार्थ अपने नग्न रूप में सामने आता है। यह एक आदर्शवादी एवं स्वप्नजीवी किशोर के परवर्ती युवा मन की, स्वप्नभंग के फलस्वरूप उत्पन्न अराजक मनोस्थिति का वैचारिक बयान है।

इन कवियों का मानना है कि हमारी सभ्यता गंभीर रूप से बीमार है, हमारी चेतना दूषित है और हमारे मूल्य हिंसक हैं। वे विश्व सभ्यता द्वारा प्रतिनिधित्व किए जाने वाले सौंदर्य एवं अन्वेषण के निर्दयी एवं जानबूझकर किये जाने वाले दुरूपयेाग से क्रोधित हैं। वे मानते हैं कि समाज जीवन को लगातार दुष्कर्म की तरफ ले जा रहा है, इसकी प्रतिक्रिया एवं परिणति ने ही इनको अस्वस्थ बना दिया है। इनकी कविता उस कुरूप एवं संज्ञाशून्य सत्य को व्यक्त करती है जिससे बहुसंख्यक व्यक्ति इस भयानक परिवेश में स्वयं को आलोकित महसूस कर सकें, आलोक उस सत्य का जिसको ये दिखाना चाहते हैं। उनके अश्लीलता सम्बन्धी वक्तव्य 'स्व' के नष्ट होने के

बाद का वासनात्मक उद्रेक तथा डरावने जीवन से उत्पन्न मानसिक विक्षिप्तता की अवस्था का रचनात्मक स्खलन है। इनकी कविता इस भयानक परिवेश में जब सब कुछ छुपा–छुपा सा अंधकारमय है एक भयावह आलोक पैदा करती है, मनुष्य के स्वत्व की अवधारणा के सामाजिक अतिचार के फलस्वरूप नष्ट हो जाने के कारणों एवं परिस्थितियों पर दारूण विलाप करती है, परिवेश की भयानकता के फलस्वरूप उत्पन्न डर के कारण बौद्धिक एवं मानसिक विक्षिप्तता की अवस्था का दिग्दर्शन कराती है तथा उस कुरूप एवं संज्ञाशून्य समय को हमारे सामने ठेलती है जो इन सबके लिए जिम्मेदार है। ऐसा करते समय ये कवि किसी भी व्यवस्था या विचारधारा के पक्ष में खड़े होने से साफ इंकार करते हैं क्योंकि इन सब पर से इनका विश्वास उठा चुका है। अब तो बस इन्हें विश्वास हैं तो अर्थ एवं मूल्यों के व्यर्थतावादी संक्रमण पर जिसके जरिए ये एक ऐसी मायावी दुनिया का निर्माण करते हैं जहाँ सब कुछ इन्हीं की इच्छा से हो सके, ये जैसे चाहें जी सकें और चाहें तो खुद मर सकें अपनी मौत देखते हुए। यह व्यवस्थाजन्य निराशा का अराजक मनोलोक को प्राप्त होकर समाज एवं व्यक्ति दोनों के विश्वासों एवं कर्तव्यों से स्थायी वैचारिक पलायन है, जिसका प्रतिनिधित्व इनकी कविता करती हैं।

लहर के जनवरी फरवरी 1964 के अंक में छपे अपने लेख 'आधुनिक बंग्ला कविता हंग्री जेनरेशनः भूखी पीढ़ी' में राजकमल चौधरी ने इनकी कविताओं पर विचार करते हुए लिखा था "क्योंकि जैसा मैं इन्हें इनकी कविताओं से (और कुछ नामों में व्यक्तिगत रूप से भी) जानता हूँ मकसद इनके पास नहीं है। मगर इतना तय है कि मकसद होना जरूरी है – यह मैं नहीं मानता। कारण होना जरूरी है, इतना ही मानता हूँ। कारण इनके साथ है। ये भूखे हैं। कृत्तिवास (कविता पत्रिका) के सोलहवें संकलन (चैत्र मास 1369) के प्रथम पृष्ठ पर 36 प्वाईंट के टाइप में छपा है–

तीव्र, उदासीन, उन्मत्त, धीमान, क्रुद्ध, संभ्रांत, क्षुधार्त, शांत, बीटनिक, भयंकर, मग्न, सत्, भूतग्रस्त, धार्मिक और अतृप्त कवियों की व्यक्तिगत रचनाएं, कविताएं और विस्फोटन (यह संकलन है)।

"अतएव ये भूखे हैं। भूख बहुत बड़ा कारण है जीने का और नहीं जीने का। आधुनिक बंग्ला के ये कवि जीते हैं, और नहीं जीते हैं (बात जैनेंद्र कुमार जैसी संदिग्ध शैली में हो गयी क्या?) इस प्रकार कि इनके कारण और उद्देश्य में जीवन और मरण में, पिपासा और तृप्तायाम् में, स्त्रीगमन और हस्तमैथुन में कोई फर्क कोई व्यवधान कोई न्याय नहीं है।"[63]

वास्तव में ये कवि अपने समय एवं समाज से इतने क्षुब्ध हैं कि उन्हें कविता से भी कोई खास उम्मीद नहीं है सिवा यथार्थ के नग्न उद्घाटन के सिवा। मलय राय चौधरी की ये पंक्तियां देखिए–

मैं बाधित करूँगा और नष्ट कर दूंगा
मैं कला के हित के लिए सबको टुकड़े–टुकड़े कर दूंगा
अब कविता के बाहर आत्महत्या के सिवा कोई दूसरा रास्ता नहीं है। [64]

ये कवि कविता में यथार्थ के उद्घाटन द्वारा समाज को बचाना चाहते हैं, 'स्व' को बचाना चाहते हैं क्योंकि उन्हें लगता है कि वे ऐसा कर सकते हैं। इसलिए वे लगातार इस भयावह समय को अदम्य सर्जनात्मक ऊर्जा के साथ अपनी कविताओं में व्यक्त करते हैं।

सुनील गंगोपाध्याय ने इनकी कविताओं पर विचार करते हुए कहा है "भूखी पीढ़ी के कवियों ने एक प्रकार का अलग काव्यांदोलन शुरू करना चाहा। उन्होंने उससे सम्बन्धित कुछ विचार विदेशों से प्राप्त किए और वे कई जगहों पर बिखर गए उन्होंने साहित्य में एक प्रकार का भूकंप उत्पन्न करना चाहा। साहित्य में इस प्रकार का प्रभाव भी किसी तरह से गलत नहीं है। यह बार–बार होता है। इस प्रकार के कार्यों से नये साहित्यिक प्रतिमान निर्मित होते हैं। परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि ये कवि इस कारण से आगे नहीं जा सके कि ये शक्तिशाली लेखक नहीं थे। वे उस स्तर तक अपनी काव्य की उत्पादकता को नहीं बढ़ा सके जैसा कि ये दावा करते थे।"[65]

भूखी पीढ़ी के कवियों का ऐसा मानना है कि सम्पूर्ण व्यवस्था ही 'आउट डेटेड' हो चुकी है, इसलिए मानवता का भला इसी में हैं कि यह सड़ी–गली, जर्जर एवं रोगग्रस्त व्यवस्था जल्द से जल्द नष्ट हो जाए। साहित्य में प्रचलित प्रतिमानों को ये समकालीन लेखन के हिसाब से प्रतिकूल एवं अपर्याप्त मानते हैं। इनका मानना है कि जो व्यक्त किया जा रहा है वह रचनात्मक बेईमानी है क्योंकि वह यथार्थ एवं परिदृश्य से विच्छिन्न होकर घने कोहरे में रास्ता खोजने के सिवा कुछ नहीं है। इसलिए ये कवि सबसे पहले अपने आक्रामक विद्युतीय तेवरों से उस कोहरे की ही काटना चाहते हैं जो नैतिकता एवं मूल्य के हिप्पोक्रेटिक नामों से वास्तविक सत्य के उपर छाया हुआ है। ऐसा करते समय वे रचना की मूल्यांकन निरपेक्षता का नारा बुलन्द करते हैं क्योंकि उन्हें लगता है कि वर्तमान प्रतिमानों के आधार पर उनकी रचना का मूल्यांकन संभव नहीं है

क्योंकि यह उस बैंक के चेक के समान है जो पहले ही दिवालिया हो चुका है। मलय राय चौधुरी कहता है "लेखकीय आज्ञा के बिना समीक्षा नहीं की जा सकती। ऐसे सख्त रवैये के लेखक को उत्तरदायी ठहराना भयंकर भूल होगी। ऐसे सम्पूर्ण व्यवहार के लिए सामंतवादी, मध्ययुगीन मानसिकता से ग्रस्त आलोचक ही उत्तरदायी हैं। भूखी पीढ़ी इन्हें समकालीन लेखन के ऐसे शत्रु मानती हैं जिनकी जगह एक वेश्या की लाश तथा खच्चर की दुम के बीच कही हैं।"[66]

वास्तव में इनका उद्देश्य न तो साहित्यिक सामर्थ्य महत्व एवं प्रासंगिकता की बहसों की बीच अपना स्थान निर्धारित करना है न ही ये किसी वैकल्पिक सौंदर्यशास्त्र का निर्माण करने का गंभीर रचनात्मक प्रयास करते हैं। इनकी सम्पूर्ण रचना प्रक्रिया अपने समय एवं समाज को ठीक ढंग से समझने, उसे ईमानदारी से व्यक्त करने तथा उसके सापेक्ष मानवता की वास्तविक स्थिति एवं उसकी बुनियादी जरूरतों के प्रस्तुतीकरण एवं पुनः परिभाषीकरण के इर्द गिर्द घूमती है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में व्यवस्था इनके सामने सबसे बड़ी बाधा एवं उनके द्वारा महसूस किए गए अराजक समय की सबसे बड़ी अपराधी बनकर खड़ी होती है। परन्तु हास्यास्पद स्थिति यह कि जो स्वयं रोगग्रस्त है वह शालीनता की झूठी चादर में लिपटी रहकर उन्हें कुंठित, रोगी, अनैतिक, अश्लील एवं अराजक विश्लेषणों से नवाजती है।

इस संवेदनात्मक दुर्घटना के फलस्वरूप इनका विवेक विद्रोह कर देता है और ये अपने आप को और साथ ही साथ सम्पूर्ण समाज को छला हुआ महसूस करते हैं। इस भयानक मानसिक विषाद एवं चरम उद्विग्नता की अवस्था में उनके अन्दर से जो अराजक वाणी निकलती है वह कोई अस्वाभाविक एवं आश्चर्यजनक घटना नहीं अपितु पीड़ित अन्तरात्मा की विवेकपूर्ण चीत्कार है जिसमें वर्तमान को बदलने का ठोस एवं सुखद भविष्य के निर्माण का शुरूआती स्वप्न छिपा हुआ है।

यद्यपि वैकल्पिक व्यवस्था का कोई वैचारिक खाका एवं वर्तमान को बदलने की प्रक्रिया का कोई ठोस ब्लूप्रिंट इनके पास नहीं है, परन्तु ऐसा वे क्यों करनाा चाहते हैं इसके पक्ष में इनके पास स्पष्ट कारण एवं ठोस दलीलें हैं। इस प्रक्रिया में ये व्यवस्था की गंदगी पर पड़ी झूठी नैतिकता की चादर को बिना किसी झिझक के एक झटके में और काफी खुशी के साथ खींच देते हैं ताकि उसका छिपा हुआ वास्तविक स्वरूप सामने आ सके और दिख सके उसकी अमानवीयता मूल्यहीनता एवं अराजकता। ऐसा करते समय वे लगातार व्यवस्था को पारदर्शी बनाने की वकालत करते हैं और

उसके उत्तरदायित्व का लोकतान्त्रिक सवाल उठाते हैं जो उसने नैतिकता एवं कर्तव्य के नारों में कहीं खो दिए हैं। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में अपने दहकते वक्तव्यों द्वारा वे उसे एक शॉक ट्रीटमेंट देते हैं ताकि वह अपनी रोगग्रस्त अवस्था से बाहर निकल सके। वैकल्पिक मूल्यों की स्थापना एवं व्यवस्थित विचारधारा का सृजन इनकी दृष्टि में आगे की पीढ़ी का ऐतिहासिक दायित्व है ये तो बस उस पीढ़ी के मार्ग में आ सकनेवाली बाधाओं को दूर कर उसका मार्ग निरापद बनाना चाहते हैं।

संदर्भ सूची

[1] विपिन चंद्र, मृदुला मुखर्जी, आदित्य मुखर्जी, आजादी के बाद की भारत, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, फरवरी 2002, पेज 184

[2] वही, पेज 204।

[3] शमशेर बहादुर सिंह, चुका भी है मैं नहीं, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1981, पेज 68

[4] देवशकर नवीन (सं.), राजकमल चौधरी, शवयात्रा के बाद देह शुद्धि, अभिरूचि प्रकाशन, दिल्ली, 2000, पेज 137

[5] वही, पेज 91।

[6] देवशंकर नवीन (सं.) – राजकमल चौधरी, बर्फ़ और सफेद कब्र पर एक फूल, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006, पेज 351

[7] See, Jay Parini (ed.), The Columbia History of American Poetry, Columbia University Press, New York, 1993, page 582.

[8] See, Ibid, page 583.

[9] See Ibid, page 583

[10] see Ibid, page 583.

[11] See, Modern American Literature (The series of Forum lectures broad cast originally by the voice of America in 1961) For the printing with the permission of Forum Editor, United States Information Agency, Wshington D.C., 1973, page 124.

[12] Ibid, page 585.

[13] See, J.D. Mcclathdry (ed.), The Vintage Book of Contemporary American poetry, vintage Books a Division of Random House New York Second Edition March 2003, page 225.

[14] See, Ibid, pp. 227-229.

[15] See, The Columbia history of American Poetry, Ibid, page 585.

[16] See ibid, page 585.

[17] See, Ibid, page 587

[18] ज्ञानोदय जून 1967 में प्रकाशित लेख पाश्चात्य सभ्यता का विद्रोही कवि गिंसबर्ग से उधृत, पेज 64–65

[19] वही, पेज 69

[20] Hellen Vendler (ed.), The Anthology of Contemporary American Poetry, I. B Tauris, London New York, 2003 quoted on page 156-157

[21] ज्ञानोदय जून 1967, पेज 64

[22] धर्मवीर भारती, पश्यन्ती, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2003, पेज 195–196

[23] ज्ञानोदय, जून 1967 पेज 64

[24] देवेन्द्र इस्सर, साहित्य और आधुनिक युग बोध, कृष्णा ब्रदर्स अजमेर, 1973, पेज 33

[25] वही, पेज 37–38

[26] वही, पेज 39

[27] पश्यन्ती, वही, पेज187

[28] नंदकिशोर नवल, समकालीन काव्य यात्रा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पेज 213

[29] See, George Plimpton (ed.), Beat writers at work, The Paris Review, The Modern library New York, 1999 (PB), page 120

[30] See, Ibid, page 124.

[31] See, Ibid, page 40.

[32] See, Ibid, page 42.

[33] See, Ibid, pp. 46-47.

[34] See, Ibid, page 29.

[35] See The Columbia History of American poetry, Ibid, page, 589.

[36] साहित्य और आधुनिक युग बोध, वही, पेज 35

[37] See, Beat Writers at work, Ibid, page 29-30

[38] See, The Columbia History of American Literature, Ibid, page 590.

[39] लाल बाबू श्रीवास्तव, आधुनिक हिन्दी और बंग्ला कविता (सन् 1935 से सन् 1960 तक), प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 1985, पेज 349–350

[40] मैनेजर पाण्डेय, मेरे साक्षात्कार, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998 पेज 23

[41] बर्फ़ एवं सफेद कब्र पर एक फूल, वही, पेज 115–116

[42] शवयात्रा के बाद देह शुद्धि, वही, पेज 137–138।

[43] वही, पेज 93

[44] चन्द्रशेखर, आधुनिकता बनाम समकालीनता, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली –लखनऊ, 1982 पेज 68–69 पर उधृत

[45] शवयात्रा के बाद देह शुद्धि, वही पेज 91

[46] वही, पेज 91

[47] वही, पेज 92

[48] आधुनिक हिन्दी और बंग्ला कविता (सन् 1935 से सन् 1960 तक) वही, पेज 293 से उद्धृत

[49] वही, पेज 295

[50] वही, पेज 295

[51] वही, पेज 295

[52] वही, पेज 295–96

[53] वही, पेज 297

[54] वही, पेज 297

[55] वही, पेज 335

[56] वही, पेज 335

[57] वही, पेज 296

[58] वही, पेज 292

[59] शवयात्रा के बाद देहशुद्धि, वही, पेज 119

[60] See, Malay Roy Choudhury, selected Poems, A Writers Workshop, Red Bird Book, 1989, page 44.

[61] See, Ibid, page 45.

[62] See Biplab Chakraborti, Pessimism And Contemporary Bengali Literature, Firma KLM Private Limited, Calcutta, 1985, pp.100-101

[63] शवयात्रा के बाद देहशुद्धि, वही, पेज 114–115

[64] See, selected Poems, Malay Roy Choudhury, Ibid., page 46

[65] See Pessimism And Contemporary Bengali Literature, Ibid, p.157

[66] आधुनिकता बनाम समकालीनता, वही, पेज 70

द्वितीय अध्याय

अकविता का उद्‌भव एवं विकास

अकविता में पायी जाने वाली आक्रामकता एवं अराजकता हिन्दी साहित्य में कोई आकस्मिक विस्फोट नहीं है अपितु बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक से ही हिन्दी साहित्य में इस प्रकार की प्रवृतियाँ देखने को मिलती हैं। पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' के साहित्य में यह अराजक मनोवृत्ति प्रधान रूप में विद्यमान थी। 31 मई 1924 के मतवाला में उनकी 'चाकलेट' तथा 19 जुलाई 1924 में 'पालट' नामक कहानियाँ छपी थीं। लौंडेबाजी की इन कहानियों ने साहित्य क्षेत्र में तूफान बरपा कर दिया था। उग्र की एक अन्य कहानी 'हम फिदाये लखनऊ' में उपर से गुरू साक्षात् परब्रहम परंतु भीतर से वटुक वासना लिप्त अध्यापकों का खबरनामा पेश किया गया गया था।[1]

उग्र ने अपने साहित्य में किसी प्रकार की पर्दादारी को व्यक्त करने की बजाय नग्न यथार्थ को प्रस्तुत करने पर बल दिया जिसका लक्ष्य था पाठकों का मानसिक उद्वेलन। उग्र ने लिखा "मैंने अपनी कहानियों में भाषा का आवरण चढ़ा आदर्शवाद की वकालत नहीं की है। कुछ अपनी उग्र प्रणाली के कारण और कुछ नग्न सत्य पर प्रेम होने के कारण मेरी कहानियाँ 'सुगरकोटेड कुनैन' नहीं बल्कि शुद्ध कुनैन या 'सिनकोना' हैं। .... अगर सत्य को ज्यों का त्यों चित्रित कर देने में कोई कला हो सकती है तो मेरी इन कहानियों में भी कला है। और यदि नहीं, कला हमेशा शुद्ध सत्य ही नहीं हुआ करती तो मेरी धधकती कहानियाँ कला शून्य हैं। मैं उस कला को लिखना नहीं चाहता मैं उस कला को जानने की चेष्टा भी नहीं करना चाहता।"[2]

सन् 1939 में नरोत्तम नागर के सम्पादन में प्रयाग से 'उच्छृंखल' नामक पत्रिका का प्रकाशन हुआ था जो तीव्र अस्वीकार, आत्यान्तिक विच्छेद और मूर्तिभंजन का मंच बनी। "आज अकविता की प्रवृत्ति में जिस नये विच्छेद की सूचना मिल रही है, सत्ताईस वर्ष पहले परम्परावाद की दृष्टि में 'उच्छृंखल' उससे कहीं अधिक बड़ा मूड और नया आघात सिद्ध हुआ था। रूढ़ि से विद्रोह एवं विच्छेद के व्यापक मूड का वह प्रमाण था।[3]

इस पत्रिका ने अराजक मनोवृत्ति के साहित्य को बढ़ावा दिया। 'उच्छृंखल' अंक–2 में रोमांटिक विद्रोह नाम से एक लेख छपा था। इस लेख में मिलन निशा नामक एक कविता थी जिसमें विवाह के बंधनों को तोड़ने की बात कही गयी थी–

जग में सब ही हाय दुःखी हैं
ओ विवाह तू मिट जाता

तो सब मिल निज मिलन
अनंत बनाते।[4]

इसी अंक में 'बड़ा भटका' शीर्षक से निराला की भी एक कविता छपी थी जिसमें उन्मुक्त प्रेम की वकालत की गयी थी –

बाह्मन का लड़का
मैं प्यार उसे करता हूँ
जाति की कहारिन वह
आती है होते तड़का
उसके पीछे मरता हूँ
कोयल सी काली
वह, चाल नहीं मतवाली
व्याह नहीं हुआ तभी भड़का
दिल मेरा, मैं आहें भरता हूँ।
रोज जगाती है आ सबको
नहीं समझती माँ इस ढब को
ले जाती हैं भटका लड़का
मैं रोज–रोज धीरज धरता हूँ।[5]

इसी अंक में भगवतीचरण वर्मा की प्रसिद्ध कविता 'भैंसागाड़ी' भी प्रकाशित हुई थी जिसमें गांधीवादी –राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन की कटु आलोचना की गयी थी तथा किसी श्री पहाड़ी की एक कहानी 'किराये की पत्नी' छपी थी जिसमें स्वतंत्र सेक्स की वकालत की गयी थी।[6]

1939 में ही उच्छृंखल प्रकाशन प्रयाग से नरोत्तम नागर का उपन्यास 'शुतुरमुर्ग पुराण' भी प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में एक ओर जहाँ जैनेन्द्र और अज्ञेय के उपन्यासों की पैरोडी की गयी वहीं दूसरी ओर अत्यन्त नग्न एवं कामुक भाषा का इस्तेमाल किया गया। एक उदाहरण दृष्ट्व्य है "मुँह और स्तन बचपन में वही स्थान ग्रहण करते हैं जो जवानी में बड़े होने पर पुरूष और नारी के जनेन्द्रिय एक से जीवन रस का स्राव होता है और दूसरा उसे ग्रहण करता है।"[7]

निराला ने स्वयं उच्छृंखल नाम से एक उपन्यास प्रकाशित करने की घोषणा की थी जिसे वे पूरा न कर सके। नरोत्तम नागर ने निराला के प्रति सम्मान व्यक्त करने के लिए अपनी पत्रिका का नाम 'उच्छृंखल' रखा। निराला के कुकुरमुत्ता संग्रह में छपी आठों कविताओं 'कुकुरमुत्ता', 'गरम पकौड़ी', 'प्रेम संगीत', 'रानी और कानी', 'खजोहरा', 'मास्को डायलाग्स', 'स्फटिक शिला' और 'खेल' में अराजकता एवं उच्छृंखलता देखने को मिलती है।

निराला ने पंत की अतिसमाजवादिनी रचनाओं की प्रतिक्रिया में स्वयं को अति जंगलवादी घोषित किया था। नामवर सिंह ने इस पर विचार करते हुए लिखा है "निराला की यह अति प्राचीन जंगलवादी दृष्टि क्या है? स्पष्ट है कि वह पंत के समाजवाद की प्रतिक्रिया है और प्रतिक्रिया की प्रकृति के अनुरूप ही अराजक विद्रोह की ओर उन्मुख है।"[8]

उच्छृंखल के प्रकाशन पर विचार करते हुए लीडर प्रेस, प्रयाग ने लिखा था "प्रतिष्ठा के बोझ से दबे पात्रों में नहीं बल्कि यहाँ इस पत्र में संयम का बाँध तोड़कर जहाँ एकायक उच्छृंखल का दौरा–सा दिखाई पड़ता है इस बात का पता चलता है कि हमारा कल का साहित्य क्या और कैसे होने जा रहा है। सुघड़ता और स्वच्छता का नमूना यह नहीं है, संभव है कुछ इसे अतिवाद से संबद्ध करे लेकिन इससे चौंकने की जरूरत नहीं है। पूर्ण सत्य की खोज के लिए जैसा कि एच.जी.वेल्स ने कहा है, तह पर तह छीलने की जरूरत होती है, चारों ओर से जीवन को, उनके ढोंग और जटिलताओं को उधेड़कर रखना होता है। हमारा साहित्य इस दिशा में बहुत पिछड़ा हुआ है इस पत्र ने इस ओर ध्यान दिया है और यह देखकर आश्चर्य होता है कि उसमें काफी सफलता मिली है।"[9] छठे दशक में अकविता जो चिंता व्यक्त करती है वह इससे काफी भिन्न नहीं है। यह अकारण नहीं कि राजकमल चौधरी ने अकविता को निराला की परम्परा की कविता स्वीकार किया है "इन दिनों मैं एक बार फिर निराला की कविताएँ पढ़ रहा हूँ, और मुझे लगता है कि निराला के बाद से और 1960 के पहले तक, आधुनिक हिन्दी कविता को एक बंजर धरती पर रहने का अवसर मिला, जहाँ बैठकर छायावादी मनोभूमि और शब्दावली में जीते रहने वाले कुछ लोग 'तार सप्तक' और उसके बाद के सप्तकों और अष्टकों की भीनी–भीनी, झीनी–झीनी कविताएँ लिखते रहे – बंजर कविताएँ, अर्थहीन बेमानी।

"निराला की बागडोर 1960–65 के कवियों के हाथ में चली आई है। यह बागडोर हमलोगों के हाथ में है।"[10] इस प्रकार हम देखते हैं कि अकविता की संवेदना के समवर्ती संवेदना का दिग्दर्शन बीसवीं शताब्दी के तीसरे और चौथे दशक के साहित्य में होता है जिसके प्रमुख उदाहरण है उग्र एवं निराला। यद्यपि चौथे दशक के अंत से ही प्रगतिवादी आंदोलन के जोर पकड़ने के कारण यह उच्छृंखलता कुछ हद तक एक खास विचारधारा के दबाव एवं कुछ हद तक विकल्पहीनता की आन्तरिक कमजोरी के कारण शिथिल पड़कर लगभग समाप्त प्राय हो जाती है। प्रयोगवाद एवं नयी कविता के दौर में यह लगभग विलुप्त रहती है और सातवें दशक में आकर फिर उभर जाती है। हिन्दी के चौथे दशक पर शोध करने वाले डॉ. राजकुमार ने इस पर विचार करते हुए लिखा है "गांधीवादी विचारधारा के प्रभुत्व में ह्रास और समाजवादी विचारधारा के प्रभाव में वृद्धि की संधिवेला पर स्थित है 'उच्छृंखल' का अराजकतावाद। साहित्य के क्षेत्र में आगे चलकर प्रगतिवाद ने इस प्रवृत्ति पर लगाम दी जैसे साठोत्तरी दशक की सेक्सी क्रांति और अराजकतावादी प्रवृत्तियों को सत्तर के दशक के जनवादी आंदोलन ने नियंत्रित किया था। उल्लेखनीय है कि अनेक उच्छृंखलवादी रचनाकार भविष्य में समाजवादी हो गए। इस दृष्टि से चौथे दशक के उच्छृंखलतावाद की साठोत्तरी पीढ़ी कई मायनों में सगोतिया है। साठोत्तरी के राजकमलवादियों को अपने पूर्वजों का इतिवृत्त मालूम था या नहीं लेकिन इतना तय है कि दोनों एक ही परंपरा की कड़ियाँ हैं।"[11]

चौथे दशक के साहित्य में व्याप्त यह अराजकतावादी प्रवृत्ति मुख्यतः छायावादी वायवीय आदर्शवाद के विरूद्ध भावुक यथार्थवाद की आक्रामक एवं नग्न प्रतिक्रिया थी जिसे बाद में प्रगतिवाद के व्यापक समाज बोध एवं यथार्थ परक चिंतन ने समाप्त प्राय कर दिया। परवर्ती प्रयोगवादी काव्य में यद्यपि कामुक शब्दावलियों का प्रयोग किया गया परंतु इसके स्वरूप की नग्नता पर भाषा के अभिजात्य का पर्दा विद्यमान था। भाषा के इस अभिजात्य को कुछेक परिवर्तनों के साथ ग्रहण करते हुए नयी कविता ने फिर उसी मखमली संसार की ओर लौटने की कोशिश की जिसका स्वप्नलोक था छायावाद। फलस्वरूप नये कवियों की संवेदना पश्चगामी हो गयी तथा वर्तमान की विद्रूपता से आँखें मूँद वह रंगों की स्वप्निल चमक में खोने लगी–

मकई से लाल गेहुँए तलुए
मालिश से चिकने हैं
सूखी भूरी झाड़ियों में व्यस्त

चलती फिरती पिण्डलियाँ। .....
(मोटी डालें जांघो से न अड़ें)
सूरज को आईना जैसे नदियाँ हैं
इन मर्दाना रानों की चमक
'उन' को खूब पसन्द।....[12]

(शमशेर बहादुर सिंह)

सौंदर्य के इस प्रकार के मांसल वर्णन से भरी नयी कविता रंगों की उन घाटियों में खो गयी जहाँ से वह वर्तमान से सीधी टक्कर लेने में अक्षम थी। इस प्रकार के सोंदर्य बोध से ग्रस्त होने के फलस्वरूप वह या तो स्थितियों से आँखें मूँदने लगी, पलायन करने लगी, यूटोपियन शब्दावलियों का सृजन करने लगी या रघुवीर सहाय की निम्नलिखित कविता की तरह अपनी बातें कहती भी थीं तो दबे–छुपे व्यंग्य में –

युक्ति के सारे नियन्त्रण तोड़ डाले
मुक्ति के कारण नियम सब छोड़ डाले
अब तुम्हारे बन्धनों की कामना है।

विरह यामिनी में न पल भर नींद आयी
क्यों मिलन के प्रात वह नैनों समायी
एक क्षण ही तो मिलन में जागना है।

यह अभागा प्यार ही यदि है भुलाना
तो विरह के वह कठिन क्षण भूल जाना
हाय जिनका भूलना मुझ को मना है।
मुक्त हो उच्छवास् अम्बर मापता है,
तारकों के पास जा कुछ काँपता है
श्वास में हर कम्प में कुछ याचना है।[13]

और यदि इस याचना के बाद भी काम न बना तो उसने चुपचाप रहने और किसी अनजाने–अनदेखे संसार की भी कल्पना कर ली ताकि इस संसार में व्याप्त विषमता एवं दुःख को भूलाने के लिए एक काल्पनिक सहारा ढूढ़ा जा सके –

तुम चलो चुपचाप होकर
ताकि खा जाओ न ठोकर
और आँखों को गड़ा दो क्षितिज के भी पार
क्योंकि बसता है क्षितिज के पार भी संसार[14]

(रघुवीर सहाय)

नयी कविता ने समय एवं व्यवस्था के बीच मनुष्य की लघुता का प्रतिपादन करते हुए उसे परिस्थिति से लाचार ऐसे व्यक्ति के रूप में चित्रित किया जो विपरीत परिस्थितियों में जीने के लिए अभिशप्त था। उसे पता था कि परिस्थितियाँ उचित नहीं हैं और जिस आस्था एवं विश्वास के सहारे वह जी रहा है वे सब अपना अर्थ खो चुके हैं फिर भी वह उन्हें तोड़ नहीं पाता। विवशता के साथ जीता है–

बजो!
ओ काठ की घण्टियों,
बजो!
मेरा रोम–रोम देहरी है
सूने मन्दिर की,
सजो
ओ काठ की घण्टियों
सजो!
शायद कल
टूटी बैसाखी पर चलकर
फिर मेरा खोया प्यार
वापस लौट आये
शायद कल
प्रकाश स्तम्भों से टकराकर
फिर मेरी अन्धी आस्था
कोई गीत गाये
शायद कल
किसी के कन्धों पर चढ़कर
फिर मेरा बौना अहं
विवश हाथ फैलाये। [15]

(सर्वेश्वर दयाल सक्सेना)

वास्तव में परिस्थितिजन्य विसंगतियों से टकराने एवं विषमताओं को समाप्त करने हेतु जिस वैचारिक चिंतन को काव्यात्मक रूप में प्रस्तुत करने की आवश्यकता थी रोमांटिक भावबोध की कोटि में कैद हो चुकी नयी कविता में उसका सर्वथा अभाव था। छठे दशक के अंत तक आते–आते नयी कविता संवेदना एवं शिल्प दोनों स्तर पर एक ठहराव का शिकार हो गयी थी। कुछ नया देने की क्षमता उसमें अब नहीं रही, नतीजन लगातार पुरानी शब्दावलियों को इधर–उधर कर प्रयुक्त किया जा रहा था। काशीनाथ सिंह ने इस पर विचार करते हुए लिखा "अज्ञेय को प्रयोगवाद का आखिरी कवि और मुक्तिबोध को अपवाद मान लेने के बाद भाषा की दृष्टि से नयी कविता गूंजहीन शब्दों का घना अंधकार है। शब्दों की गूंज ही उसका अर्थ होता है। ये कविताएँ अर्थ के स्तर पर विपिन्न हैं। जैसे 'हल्के फिरोजी रंग की चूड़ियों का साया', 'धानिया चूनरी में लिपटी तुम्हारी काया' (लक्ष्मीकांत वर्मा), 'करोड़ो वायवीय अनुभूतियों का निचुड़ता सागर', 'मृदुल संख्यातीत लच्छों भरा बादल' (साही), 'किरण वल्गा', 'विहग उड़ते अश्व', 'तारों की अन्ध गलियाँ', (कुंवर नारायण), 'विवेक के पीले सान्ध्य फूलों का पेपरवेट' (सर्वेश्वर), 'फेन का शिरस्त्राण', 'सिवार का कवच', 'निर्जीव मछलियों का धनुष', 'लहरों का नीला अवगुंठन' (भारती), 'टिकुली की कसक', 'सपनों के अक्षर', 'ओठों के लाली के गीत', 'लोरी की कलियाँ' (मलयज) आदि। जरा गौर से देखिए तो कविता के ये तरल और लच्छेदार मुहावरे या तो संज्ञाशेष विशेषणों के दलदल हैं या उपमा और रूपकों के बहाने वस्तुओं की सत्ता से इंकार के नखरे। जिस प्रकार विशेषणों का प्रयोग वस्तु के अस्तित्व को ठेस पहुँचाता हैं, उसकी अहमियत पर पर्दा डालता है, उसी प्रकार उपमा और रूपक भी सही वस्तु को हटकार उसके स्थान पर दूसरी बाहरी वस्तु को ला खड़ा करते हैं परिणाम यह होता है कि वस्तु या यथार्थ अपनी जगह अदृश्य हो जाता है और कविता के ये मुहावरे एक खास किस्म का रूमानी वातारण पैदा करके अपने दायित्व से मुक्ति पा लेते हैं।

"नई कविता में ज्यादातर इसी प्रकार के शब्दों विशेषणों और मुहावरों के जाल हैं जो सरलता से पाठक को वस्तुगत यथार्थ के समीप नहीं जाने देते।"[16] समय एवं परिस्थिति विच्छिन्न होने तथा शिल्पगत चमत्कार पर ज्यादा ध्यान देने के कारण नयी कविता के संवेदनात्मक ठहराव ने उसे पिछली छायावादी भावुकता की तरफ ठेल दिया। नतीजा यह हुआ कि सौंदर्य के कायिक चित्रों की ओर कवि का ध्यान अधिक जाने लगा –

तुम्हारे स्पर्श की बादल धुली कचनार नरमाई।
तुम्हारे वक्ष की जादूभरी, मदहोश गरमाई!
तुम्हारे चितवनों में नरगिसों की पात शरमायी!
किसी भी मोल पर मैं आज अपने को लुटा सकता
सिखाने को कहा मुझ से प्रणय के देवताओं ने
तुम्हें आदिम गुनाहों का अजब सा इन्द्रधनुषी स्वाद!
मेरी जिंदगी बरबाद!
इन फिरोजी होठों पर मेरी जिंदगी बरबाद! [17]

(धर्मवीर भारती)

इस प्रकार के काव्य चिंतन का परिणाम यह हुआ कि नयी कविता एक प्रकार के वैचारिक एवं रचनात्मक ठहराव का शिकार हो गयी। स्वयं कवि को ऐसा प्रतीत होने लगा कि वह असहाय एवं निरूपाय है। सो गया हूँ, बंध गया हूँ, थक गया हूँ जैसे शब्द यह स्पष्ट करते है कि वह व्यवस्था में अपने को अनफिट तो महसूस कर रहा था लेकिन परिवर्तन की ऊर्जा से क्षीण था –

कभी लगता खो गया हूँ
और जिनके बीच मेरी वेदनाएं डोलती असहाय
अपने नहीं
जैसे सो गया हूँ
नींद से कुछ–कुछ समझता सा कि असली
भूख, असली हाय,
सपने नहीं
जितना बँध गया हूँ
देह के प्रति आत्मा के नियत लौकिक दाय
उतने नहीं
ज्यादा थक गया हूँ
देख सूनाकाश, शायद पंख के बाल आज भी निरूपाय
इतने नहीं। [18]

(कुंवर नारायण)

नयी कविता के रूमानी भावबोध एवं लघुता की भावना ने उसे परिवेश से काट दिया और वह रचनात्मक स्थैर्य का शिकार हो गयी। गिरिजा कुमार माथुर ने नयी कविता के इस स्थैर्य पर विचार करते हुए लिखा "सन् 1960 तक आते–आते नयी

कविता में एक विशेष प्रकार की रूढ़ि तथा पैटर्न स्थिर हो गया। छायावाद की तरह फिर तमाम शब्द, उपमान, विम्ब, भंगिमा, शैली और कथ्य की एक परिपाटी चल पड़ी जिसकी संगति यथार्थ सत्ता से क्रमशः कम होती चली गयी है। अन्तर्कथ्य और आत्मानुभति के निवेदन की ओट में पीड़ा, दार्शनिकता, सूफियाना अंदाज, लाक्षणिक विरोधाभास, अप्रस्तुत विधान, अमूर्तन और सूक्ति प्रवचनों के एक नव छायावाद ने जन्म लिया जिसके अधिकतर कवियों ने अर्न्तजगत् की विवृतियों के अंकन के नाम पर बहिः सत्ता से आँखें मूद लीं। आन्तरिक अर्थवत्ता और बौद्धिक अनुभूति की सिद्धांतवादिता के बहाने अ–यथार्थ, जटिलताओं और आरोपित पीड़ाओं को कवि एक ही तरह से व्यक्त करने लगे क्योंकि व्यक्त करने के लिए कुछ मौलिक नहीं था।"[19]

व्यक्त करने के लिए कुछ मौलिक नहीं था ऐसा नहीं है परंतु उस मौलिकता के लिए जिस नवीन मनः स्थिति की आवश्यकता थी नयी कविता का कवि उससे रहित था। उसने तत्कालीन जीवन समस्याओं को व्यापकता में ग्रहण करने की बजाय सृजन की समस्याओं के रूप में ग्रहण किया फलतः वह भावनात्मक अनुशीलन के दायित्व में रत होकर वैचारिक स्खलन का शिकार हो गया। इस स्खलन ने उसे उन तमाम वास्तविकताओं से दूर कर दिया जो कलाकार के लिए सृजन की आधारभूमि हो सकते थे। इस आधारभूमि से कट जाने के फलस्वरूप नये कवि के पास रचना के लिए आवश्यक तत्वों की कमी हो गयी जिसके कारण एकतरफ तो उसकी मौलिकता में ह्रास हुआ दूसरी तरफ वह एक पैटर्न में बँध गया।

नयी कविता के इस ठहराव पर विचार करते हुए उस के एक प्रमुख प्रवक्ता लक्ष्मीकांत वर्मा ने लिखा "नयी कविता आज एक ठहराव की स्थिति में बार–बार एक वृत्त और परिधि की साक्षी मात्र बनकर रह गयी है। आज यह भी स्पष्ट देखा जा सकता है कि नयी कविता के नाम पर जो भी नयी से नयी प्रवृत्ति जन्म लेती है, वह बार–बार एक प्रकार की रूढ़ि से दूसरे प्रकार की रूढ़ियों में जकड़कर ठण्डी हो जाती है। किसी भी विधा में जब यह स्थिति आती है तब उसकी अन्तिम परिणति उसकी निजी गतिहीनता में बदल जाती है।"[20]

"आज नयी कविता लिखने वाले पचास से भी अधिक प्रतिष्ठित कवि हैं। उसमें अच्छी और एक सीमित परिधि में ही कलापूर्ण कविताएं भी लिखी जा रही हैं। उसकी शैली अब प्रायः सर्वपरिचित शैली बन गई है। उसकी अभिव्यक्ति के रूप निश्चित हो चुके हैं। उसकी मुद्राऐं और इसके विम्ब इससे भी अधिक घिस चुके हैं। भावबोध के स्तर पर आज नितांत समसामयिक को ग्रहण करने में वह अपने को असमर्थ पा रही

है। संवेदनाओं के स्तर पर भी या तो वह स्थिर है या पीछे खिसक रही है। जिस लिरिकल मूड को पिछले पन्द्रह वर्षो से नया कवि तोड़ना चाहता था आज वह पूरी तरह उसी पर सवार है। नयी कविता इस प्रकार घूम फिरकर जहाँ से चली थी वहीं आकर पहुँच गई है।"[21]

स्वतंत्रता के पश्चात् देखे गए सुन्दर एवं सुखद भविष्य के स्वप्न ने यथार्थ की जमीन पर जब यात्रा शुरू की तो सब कुछ अलौकिक एवं अतिरंजित ही नहीं था अपितु बहुत कुछ ऐसा भयानक एवं विद्रूप भी था जिसने इस स्वप्न की पूर्ति को प्रश्नांकित कर दिया था। यथार्थ के इस भयावह परिवेश से विच्छिन्न होकर नयी कविता ने अपने आपको रोमांटिक आदर्शवाद के दायरे में कैद कर लिया। ऐसा नहीं था कि इन कवियों के पास इस यथार्थ से टकराने की क्षमता नहीं थी या वे उससे अपरिचित थे अपितु अस्तित्ववादी विचारधारा के प्रभाव तथा लघुमानव के बोध के फलस्वरूप ये किसी निर्णायक संघर्ष की वैचारिक ऊर्जा से क्षीण हो चुके थे। यही कारण था कि उन्होंने अपने को रोमांटिक भावबोध में बांधे रखा। लघुता के स्वीकार की यह अनिवार्य काव्य परिणति थी जिससे चाहकर के भी वे नहीं बच सकते थे क्योंकि इसके लिए उन्हें अपने सम्पूर्ण वैचारिक आधार को नये सिरे से संयोजित करना पड़ता जो करने का न तो इनका इरादा था और न ही उनके पास इसकी कोई वैकल्पिक वैचारिक तैयारी थी। फलस्वरूप वे अपने बनाये दायरे में खुद ही कैद हो गए।

नयी कविता की इस विवशतापूर्ण परिणति पर विचार करते हुए काशीनाथ सिंह ने लिखा है "असल में बाहरी समस्याओं के दबाव के कारण कवि को जहाँ साहस के साथ उसका सामना करना चाहिए था वहाँ उसने उनसे संघर्ष करने के बजाय अपने ही घर की चारदीवारी में मुस्कुराते हुए 'देश–निकाला' स्वीकार किया। यहाँ तक भी ठीक था लेकिन उसके दबाव में अनुभूत संवेदनाओं के सम्पूर्ण दायरे के अनुकूलन के लिए जिस सजग भाषा की जरूरत थी उसकी भी उपेक्षा कर उसने या तो परम्परित बिम्बों को संशोधन के साथ अपना लिया या चालाकी के साथ कविता में प्रस्तुत कर दिया। यानि सुविधाजनक शार्टकट अखितयार कर लिया।

"अपने युग के सर्वांगीण मानवीय विघटन का मुकाबला करने के लिए जिस संगठित शक्ति की आवश्यकता होती है। वह नई कविता में नहीं दीखती। नये कवियों में कुछ ने एक वस्तु स्थिति का सामना न कर सकने के कारण उसके एवज में दूसरा स्थानापन्न तलाश लिया और कुछ भाषा के साथ खेलने लगे।"[22]

छठे दशके के अन्त तक आते–आते नयी कविता का काव्य आंदोलन रूढ़ हो चुका था और उसकी संवेदना बद्धमूल हो चुकी थी। लघुमानववाद के दायरे में हिन्दी कविता घुटन महसूस कर रही थी। नवीन समय के हिसाब से नयी कविता की संवेदना पुरानी और अपर्याप्त पड़ रही थी। ऐसे में समय एवं समाज की मांगों के अनुसार नयी कविता के विरूद्ध अराजक अकवितावाद ने जन्म लिया। बच्चन सिंह के शब्दों में "छठे दशक में नई कविता का काव्य आंदोलन अपनी व्यक्तिगतता और आत्मस्थता के कारण अपनी मौत मर गया। सब मिलाकर उसमें आस्था का स्वर ही प्रधान था, यद्यपि अनास्था की कमी नहीं कही जा सकती। आस्था–अनास्था के द्वंद में व्यक्ति स्वातंत्र्य, उत्तरदायित्व आदि मूल्यों का भी अन्वेषण किया गया। किन्तु सामाजिक व्यवस्था ने व्यक्ति स्वातंत्र्य और उत्तरदायित्व के बीच की खाई कभी पटने नहीं दी। कवियों के उगाए हुए सूरज में रोशनी नहीं आई–सूर्य का स्वागत व्यर्थ चला गया। अहं के विसर्जन की जगह कवि अहं में विसर्जित होते गए और फिलिस्टीनी मुद्रा के कारण कविता दीक्षागम्य हो गई। राजनीतिज्ञों के वादों की तरह कवियों की आस्थाएँ भी झूठी सिद्ध हुईं। इसलिए सातवें दशक के पहले दौर से अस्वीकार और नकार का स्वर अधिक मुखर होकर आया पर आगे चलकर आठवें दशक में एक व्यवस्था आई।"[23]

वास्तव में स्वतंत्रता के पश्चात् जिस प्रकार से देश की परिस्थितियों में परिवर्तन हुआ। उससे उत्पन्न नवीन जन चेतना एवं समाज–चेतना जिस प्रकार की भावगम्यता की मांग कर रही थी नयी कविता उसे प्रस्तुत करने में विफल साबित हुई जिसके फलस्वरूप एक काव्य आंदोलन के रूप में वह अप्रासंगिक हो गई। इन बदली हुई परिस्थितियों पर विचार करते हुए गिरिजा कुमार माथुर ने स्वीकार किया "वर्तमान और भविष्य की इस क्रमिक हत्या के सन्ताप में ऐसी कोई आस्था नहीं है जो आदमी को थोड़ा सा भी आश्वासन दे सके। देवता भ्रष्ट हो चुके हैं, चमत्कार और वरदान के प्रताप आज अर्थरहित हैं, परिणाम का कोई उपाय नहीं, आदर्शों के माध्यम से पलायन के रास्ते लुप्त हो चुके हैं और ईश्वर की मृत्यु हो गयी है। आस्थाओं की स्वीकृत धुरियाँ पहले ही टूट चुकी थीं। उनके स्थान पर ऐसा कोई दृष्टिकोण उत्पन्न नहीं हुआ जो यन्त्र जनित वाह्य वैभव को कोई आकर्षक स्थायी अर्थ दे सकता था। धर्म अतीत का फोका उच्छिष्ट है। परिवार, वह लुप्त प्राय है, क्योंकि अंतरंग और सार्वजनिक की सीमा रेखाएँ भंग हो गयी हैं। व्यक्तिगत अर्थात् विशिष्ट और निर्वैयक्तिक अर्थात् सामान्य में कोई भेद नहीं रह गया है। दाम्पत्य जीवन, वह दो तलाकों के बीच का व्यवधान है। प्यार गर्भ निरोधक गोलियों की छत्र छाया में समाधानहीन बोरियत का क्षणिक रेचन, ईश्वर एक

अविश्वसनीय कल्पना जिसके अस्तित्व की प्रत्येक सम्भावना ही ज्ञान के सूक्ष्म जटिल आलोक में क्रमशः मिटती चली गयी है। मानवता एक समान रूचि, विन्यास, आचार और जीवन स्तर वाली भीड़ है जिसका आकृति हीन नाम मानवता है। इस व्यक्तित्वहीनता ने मानवता के अर्थ को दूरान्वित कर उसे एक अमूर्त प्रत्यय बना दिया है। समाजकल्याण वह दानी संस्थाओं द्वारा धर्मार्थ चलाया जाना वाला कार्य है, जिसे अवैतनिक धनाढ्य करते हैं या पेंशनयाफ्ता लोग और अधेड़ औरतें। राजनीति विभिन्न दलों की निरंतर चलने वाली म्युजिकल चेयर्स रेस या चुनावों के समय प्रचारित किए जाने वाले लगभग एक से घोषणा पत्र, जिनकी सिर्फ शब्दावली भिन्न होती है। शान्ति गर्म युद्ध से शीतयुद्ध का रूपान्तर, और भविष्य अनिश्चित वर्तमान की समाप्तिहीन नियति, मात्र मुद्राओं का आंशिक आश्वस्त परिवर्तन। इस प्रकार दूसरी स्थिति भय और मूल्यहीनता की है।"[24]

एक तरफ जहाँ परिस्थितियाँ इस प्रकार से बदल रहीं थीं वहीं दूसरी तरफ नयी कविता लगातार एक रूमानी पैटर्न में बंधती जा रही थी जिसके कारण तत्कालीन जन–संवेदना उसमें नहीं अट पा रही थी। इसी समय 1962 के भारत–चीन युद्ध ने स्वातंत्र्योत्तर भारत के स्वप्निल आदर्श को निर्णायक झटका दिया। सुखद एवं सुरक्षित भविष्य के सपने को इसने छिन्न–भिन्न कर दिया जो पंचवर्षीय योजनाओं की बढ़ती असफलता तथा पंचायती राज की कमजोरियों से पहले से ही आक्रान्त था। इसने नेहरूवियन आदर्शवाद के खोखले ढांचे को तार–तार कर दिया। इसके फलस्वरूप हुए मोहभंग ने जिस अराजक एवं अमानवीय परिवेश का सृजन किया उसके फलस्वरूप अकविता एक अनिवार्य काव्य परिणति के रूप में हमारे सामने आयी। केदारनाथ सिंह ने इसको परिभाषित करते हुए लिखा "60 के बाद की कविता इन्हीं सीधे–सादे पर खौफनाक चमत्कारों की काव्यात्मक प्रतिक्रिया हैं मोटे तौर पर इस बीच लिखी जानेवाली कविताओं का विकास दो दिशाओं में हुआ है। पहला कविता से अकविता की ओर ओर दूसरा शुद्ध कविता से एक खास किस्म की प्रतिबद्ध कविता की ओर। ये दोनों प्रवृत्तियाँ वस्तुतः अलग–अलग न होकर उस मूल प्रवृत्ति के ही दो रूप हैं, जो कविता और जीवन के हर स्तर पर वस्तुओं के स्वीकृत अर्थ को अस्वीकार करती हैं। अस्वीकार का यह स्वर कुछ कवियों में तेज है, कुछ में धीमा और कुछ में इतना सूक्ष्म कि सुनाई नहीं पड़ता। पर शायद यही एक बात है जो उन्हें अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी से अलग करती है।"[25]

अकविता ने साठोत्तरी मोहभंग को अपने आक्रामक एवं अराजक वक्तव्यों से वाणी दी तथा नयी कविता के आदर्शवादी रूमानी भावबोध को तहस–नहस कर

यथार्थ की नयी जमीन की तलाश की ओर कदम बढ़ाए। यहाँ विकल्प की स्थापना की चिंता कम और ध्वंस की प्रक्रिया की तरफ ध्यान अधिक था। अकविता ने जीवन एवं साहित्य में किसी प्रकार के अलगाव के खिलाफ नग्न यथार्थ के चित्रण पर बल दिया जो जैसा है उसे ठीक उसी तरह से व्यक्त करने की प्रक्रिया में इसने कई प्रकार के रचनात्मक खतरे उठाए जिसके फलस्वरूप इसने काव्य के शिल्प एवं संवेदना को एक नयी दिशा दी। इसे परिभाषित करते हुए जगदीश चतुर्वेदी ने कहा "वस्तुतः अकविता ने आज के जीवन की विसंगति को पूरे आवेग के साथ महसूस कर काव्य सृजन के नये आयाम स्थापित किए हैं। आज कविता बिम्ब योजना, अर्थ की लय या स्वयं से साक्षात्कार की काव्य रूढ़ियों से इतर कवि के अपने आन्तरिक सत्य और उसकी अस्मिता (आईडेंटिटी) के सक्रिय, क्रियाशील अन्वेषण की उपज है। हम जिस दोहरी जिंदगी को जी रहे हैं, जिस यांत्रिक जीवन की ऊब से संत्रस्त हैं, जिस भीड़ के अकेलेपन का अहसास लेकर हम अपने अस्तित्व के लिए संघर्षरत हैं, उसका अहसास अतीन्द्रिय रागात्मकता, योगासीन मुद्रा में व्यस्त परम्परावादी कवियों को न तो हो सकता है और न ही उनको इसकी कचोट सृजनरत होने के लिए बाध्य कर सकती है।"[26]

वास्तव में बदली परिस्थितियाँ एक अलग प्रकार के काव्यात्मक आदर्श की मांग कर रही थीं। ऐसा काव्यात्मक आदर्श जो विकृत यथार्थ को प्रस्तुत कर सके, जो परिवेश की विसंगतियों, विडम्बनाओं एवं विद्रूपताओं को चित्रित कर सके और जो स्वातंत्र्योत्तर मोहभंग के फलस्वरूप उत्पन्न अराजक मनोदशा को आक्रामक वाणी दे सके। अकविता ने इस मांग को पूरा किया अतः यह एक अनिवार्य आवश्यकता के रूप में सामने आयी। इसीलिए जगदीश चतुर्वेदी ने इसे निषेध काव्य नहीं अपितु अनिवार्य काव्य परिणति के नाम से सम्बोधित किया। अकविता के उद्‌भव की ऐतिहासिक परिस्थितियों को परिभाषित करते हुए श्याम परमार ने धर्मयुग में एक पत्र लिखा था जो 29 मई 1966 के अंक में 'आपका पत्र मिला' नामक स्तंभ में छपा था। परमार ने लिखा "छायावाद की वास्तविक मृत्यु बीस पच्चीस वर्ष पूर्व नहीं बल्कि छठे दशक के अन्त में आकर हुई। अर्थात् छायावाद से जन्मे कथ्य एवं रूपगत परिवर्तन कई वर्षों तक नये मूल्यों के निमित्त, प्रयोगवाद और बाद में नयी कविता के नाम से एकरस बने रहे। उस परिवर्तन ने छायावाद की अबोध भावुकता का आभामण्डल विच्छिन्न करके संपन्न स्थिति की सूक्ष्म संवेदना को दूसरे स्तर पर ग्रहण किया। मन्द्र सप्तक से तारसप्तक में आते हुए केवल सुर बदला।"[27]

आगे उन्होंने अकविता के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा "लेकिन प्रश्न उस कविता का नहीं है बल्कि उस टूटन का है जो कविता से निकलकर अकविता की ओर बढ़ रही है। सम्भावनाओं के वैविध्य को देखते हुए आज की निस्संग और अतर्क्य कविता का तेवर विक्षुब्ध होकर भी संतुलित मनः स्थिति का तेवर है। अतएव पूर्ववर्ती कविता से इसका कोई विरोध नहीं क्योंकि विरोध अपने आप में एक रोमाण्टिक प्रक्रिया हैं जिसे छायावाद के परिवर्तित रूप की तथाकथित नयी कविता भोगती रही। विरोध अकविता की मनः स्थिति में नितांत मूल्यहीन है। उसकी सृजनात्मक प्रक्रिया स्थितिपरक एवं संतुलित ढंग की है। उसमें संवेदनात्मक करूणा नहीं, क्योंकि आज की थोथी मर्यादाओं के दिवालिपेयन के बीच कैशोर्यपरक भावुकता कोई अर्थ नहीं रखती। हिन्दी में जबकि एक साथ कई पीढ़ियों का आग्रह पल रहा है और उनके साथ कई मानों में समझौता करके जीना पड़ता है, तब समूची स्थिति इतनी अव्यवस्थित और लाइलाज होती है कि संवेदनात्मक भावप्रवणता (शब्द और कथ्य दोनों स्तरों पर) कविता के लिए आरोपित और कमजोर साबित होती है। इसलिए वास्तविक अकविता न फिनिश में विश्वास रखती है न कथ्य से चमत्कृत करना चाहती है, ऐसी कविता विकृत सम्बन्धों की कविता है। अलग तरह से 'इन्वाल्व' हुए व्यक्ति की अनिबद्ध कविता है।

"अपेक्षाकृत गैर रोमाण्टिक मुहावरों की कविता है। इसलिए उसकी भाषा से ऊपरी अलंकार उतर गए हैं। .....भीतर ही भीतर द्रवित होती लज्जालु भावप्रवणता ऐसी छलना है, जिसे एक प्रकार का 'खम' देने के प्रयत्न में नयी कविता शिल्प के चक्कर में पड़ी रही। अकविता खम देना नहीं चाहती, न शिल्प की अनुवर्तिनी होना चाहती है। उसका आशय न अच्छी कविता होने के बोध से है, न बुरी कविता के प्रवर्तन से। अच्छी और बुरी कविता दोनों विभ्रम हैं। प्रकट है जिस भाषा की पूर्णता का दावा किया जाता रहा है वह कविता की भाषा न रही औपचारिक सम्बन्धों की भाषा बनकर रह गयी है। इन सभी प्रश्नों के बीच अद्‌भुत वास्तविक सत्य की तलाश, अकविता की तलाश है।"[28]

अकविता एवं नयी कविता के बीच के अन्तराल एवं उसकी सामाजिक भूमिका को विजय कुमार के इन शब्दों से समझा जा सकता है– "अकविता आंदोलन युवा पीढ़ी के इस भौतिक और मानसिक विस्थापन, असुरक्षा बोध और विशुद्ध दैनंदिन अस्तित्व के स्तर पर झेले जाने वाले संकट की विस्फोटक अभिव्यक्ति था। वह स्वप्नभंग का आंदोलन था, किन्हीं अर्थों में एक नेगेटिव ऊर्जा का आंदोलन भी। नयी कविता वस्तु

संसार में पनप रहे जिस तनाव को अपने मध्यवर्गीय खोखले अभिजात्य से ढंकना चाहती थी, साठोत्तरी कविता उस रागात्मक ऐश्वर्य के जाल को अपनी संस्कारहीन शब्दावली से छिन्न–भिन्न कर देना चाहती थी। यूरोप में जिस तरह बीसवीं सदी के प्रारंभिक दो दशकों में बुर्जुआ कला मूल्यों के खिलाफ एक जबर्दस्त उबाल आया वैसा ही कुछ चाय के कप में तूफान हमें अकविता आंदोलन में दिखाई पड़ता है। अकविता आंदोलन में थोड़ी बहुत जो भी सर्जनात्मक ऊर्जा थी वह पूंजीवादी सामंती ढांचे पर खड़े विकास में कुछ खास तरह के अंतरालों को 'ऐड्रेस' करती थी। ये अंतराल सामाजिक क्षेत्र में परंपरागत भौतिक संस्कारों और सुख की नयी अवधारणाओं के बीच, आर्थिक क्षेत्र में मेहनतकश वर्ग और नवसम्पन्नों के बीच, सृजनात्मकता के क्षेत्र में शब्दों और उनके अर्थ के बीच पैदा हो रहे थे। अकविता एक खास तरह की सम्बन्धहीनता और असांमजस्य की कविता है। उसमें ऊब, अकेलेपन, कुंठा, अवमानना जिज्ञासा, अनास्था और निषेध की अभिव्यक्ति साहित्य को शुद्धतावाद के घेरे से निकालकर सीधे–सीधे अपने समय की अनैतिकता, अव्यवस्था, विघटन, रूग्णता और रोजमर्रा के तनाव में अवस्थित कर देना चाहती थी।"[29]

अपने समय एवं समाज में प्रचलित खास किस्म के अन्तर्विरोधों को संबोधित करने में नयी कविता की विफलता ने उन परिस्थितियों को उत्पन्न किया जिनसे प्रेरित होकर एक अनिवार्य काव्य परिणति के रूप में अकविता का उद्‌भव हुआ। व्यवस्था की विफलता ने इसकी अराजक मनोवृत्ति का सृजन किया और रूमानी भावबोध के खिलाफ नग्न यथार्थ को व्यक्त करने की चिंता ने इसके शिल्प का निर्माण किया जो पारंपरिक अभिजात्य से मुक्त खुरदुरा एवं बेतरतीब था। यह एक ऐतिहासिक अनिवार्यता थी जिसे अकविता पूरा कर रही थी।

सन् 1963 में जगदीश चतुर्वेदी के संपादन में 'प्रारंभ' नाम से एक काव्य संकलन प्रकाशित हुआ। उस संकलन के माध्यम से नयी कविता से पृथक एक अलग काव्यधारा के निर्माण का प्रयास किया गया। पुस्तक चार भागों में विभक्त थी 'नस्लहीन नगर और अंधे लोग', 'कमजोर आवाजें और छटपटाते हाथ', 'आकाश के बाजुओं में' तथा 'सिलहुटी रूपाभास और अनजान रागनियां'। उसमें संकलित कवियों में थे जगदीश चतुर्वेदी, कैलाश वाजपेयी, नरेन्द्रधीर, राजकमल चौधरी, केशु, ममता अग्रवाल, श्याम परमार, विष्णुचन्द्र शर्मा, श्याम मोहन, मनमोहिनी, रमेश गौड़, राजीव सक्सेना, स्नेहमयी चौधरी तथा नर्मदा प्रसाद त्रिपाठी। भूमिका में जगदीश चतुर्वेदी ने लिखा "आज की

कविता निश्चय ही इतनी विकसित हो चुकी है कि पुरानी मान्यताओं यथा 'क्षण की अनुभूति', 'लघुमानव' तथा 'अहंमन्यता' के फार्मूलाग्रस्त मष्तिष्कों को इससे निराशा होगी। राजनीतिक विचारों पर काव्य रचने का जमाना लद चुका, समाज का दृष्टा कवि आज मानवीय चेतना के बौद्धिक स्तरों को प्रतिभासित कर रहा है। यह कहने में मुझे कोई अड़चन नहीं कि किसी भी कुंठित या ग्रस्त राजनीतिक विचारधारा में हमारा विश्वास नहीं हैं। व्यक्ति सत्ता की तथा अनुभूत सत्य ही हमारे काव्य का और दूसरे शब्दों में हमारे जीवन का धार्मिक दर्शन है। हमारे सामाजिक आदर्श हमारी बौद्धिक चेतना से ही अनुप्राणित है। विश्वजनीन दृष्टि हममें पनप रही है, जाति तथा देशीय या महाद्वीपीय भावनाएं हम में कोई स्खलन नहीं ला सकती।"[30] "पुरानी मान्यताओं, पुराने नियमों तथा पुराने संस्कार एवं रीति–रिवाजों के विरुद्ध एक सहज आग्रह आज के कवि का है जो युग सापेक्ष है। इस विरोध का कारण पुरानी मान्यताओं के प्रति गहरी ऊब तथा नये के प्रति एक सहज आकर्षण है। पुरानी काव्य परंपरा के प्रति विद्रोह भी इसीलिए आवश्यक सा है। इग्लैंड के एग्री यंगमैंनों की तरह एक क्षुब्धता आज के हिन्दी कवियों में है। किन्तु इन युवा आक्रोशी कवियों में असामाजिकता कहीं भी नहीं है। वह समाज का विध्वंस नहीं करना चाहते मात्र एक परिवर्तन चाहते हैं"।[31] इस संकलन में नयी कविता की संवेदना से अपने को अलगाने एवं नवीन शिल्प के प्रति आग्रह की कोशिश दिखायी देती है। इन कविताओं की अंतर्वस्तु में कुछ ऐसी ताजगी थी जिसने इसे तत्कालीन प्रचलित कविता प्रणालियों से भिन्न धरातल प्रदान किया। इसे तत्कालीन रुचि का पर्याय माना गया स्वयं जगदीश चतुर्वेदी ने घोषणा की "वैसे भी अज्ञेय की रुचि और आज की रुचि में एक मौलिक अन्तर आ गया है।"[32] ये कवि उसी बदली मौलिकता को अपनी कविता के माध्यम से अन्वेषित एवं प्रस्तुत कर रहे थे। अकविता ने अपनी भूमिका इसी संकलन से प्राप्त की। प्रभाकर माचवे ने प्रारंभ के सम्बन्ध में लिखित अपने लेख में इस संकलन को हिन्दी कविता के इतिहास में मील का पत्थर नाम से सम्बोधित किया "भूमिका लेखक की एक बात बहुत सही हैं कि अज्ञेय की रुचि और आज की रुचि में एक मौलिक अंतर आ गया है। प्रारंभ इस बात का सशक्त संकेत हैं कि हिन्दी की नयी पीढ़ी सिर्फ जुगाली नहीं कर रही है.... मैं प्रारंभ को नकेन के बाद का महत्वपूर्ण कविता संकलन मानता हूँ। यह काव्य प्रगति का एक महत्वपूर्ण मील का पत्थर है।"[33]

प्रारंभ के कवियों के बारे में अपना विचार व्यक्त करते हुए रमेश कुंतल मेघ ने लिखा "प्रारंभ के कवि आधुनिक हिन्दी कविता के सबसे ताजे और विविध विलक्षण हस्ताक्षर हैं। समाज के कटु यथार्थ को, जीवन के काले गुलाब को, परिवेश के

जहरीले दंश को, इन्होंने गहराई से भोगा है तथा ईमानदारी से निर्भीकता पूर्वक घोषित किया है। शैलियों के कुछ प्रयोग अवश्य ध्यान देने योग्य हैं इन्होंने विश्व संस्कृति के महान गद्यकारों के ईडियम्स को गद्यरूप में रूपान्तरित किया है। एवुतशेंको की जर्नलीज शैली, कामू की एब्सर्डिटी की रचना करने वाली विरोधाभासपूर्ण शैली, व्हाडलर कवियों की रिपोतार्ज शैली, डायलन टामस की नियोरोमांटिक बोध को प्रतीक करने वाली प्रतीक गुंथ शैली इस संग्रह के कुछ कवियों में (क्रमशः जगदीश चतुर्वेदी, कैलाश वाजपेयी, राजकमल चौधरी, नरेन्द्र धीर, विष्णु चंद्र शर्मा, राजीव सक्सेना) दृष्टव्य है।"[34]

अकविता नाम का संदर्भ पहले पहल 1964 में पंजाब विश्वविद्यालय से प्रकाशित काव्य संकलन अभिव्यक्ति–एक में मिलता है। इस संकलन में एन्टी कविता और अभिनव काव्य शीर्षक से जगदीश चतुर्वेदी की एक छोटी सी टिप्पणी प्रकाशित हुई थी।[35] जुलाई 1965 में धर्मयुग में प्रकाशित अपने लेख 'सन् साठ के बाद की हिन्दी कविता' में केदारनाथ सिंह ने इस दौर की कविता को 'कविता से अकविता की ओर' जाने वाली कविता कहा।[36] सन् 1965 में ही अकविता नाम से एक पत्रिका प्रकाशित हुई। पत्रिका के चयनकर्ताओं में जगदीश चतुर्वेदी, मुद्राराक्षस, रवीन्द्रनाथ त्यागी और श्याम परमार के नाम थे। प्रस्तावकों में अतुल भारद्वाज, गंगाप्रसाद विमल, गिरिजा कुमार माथुर, तारा टिक्कू, नित्यानंद तिवारी, प्रभाकर माचवे, भारतभूषण अग्रवाल, राजीव सक्सेना, विनोद चंद्र पाण्डेय और सौमित्र मोहन के नाम थे। प्रकाशन के सन् का उल्लेख संकलन में नहीं किया गया था यद्यपि कवर पर के. खोसा द्वारा बनाया गया विघटन का जो चित्र था उस पर सन् 1965 अवश्य लिखा था। फ्लैप पर श्याम परमार का संकेत छपा था जिसमें घोषणा की गई कि वृहत्तर परिवेश से उपजी काव्य रचनाओं को प्रकाश में लाना उनका ध्येय है। यहाँ अकविता का कोई सिद्धांत और दर्शन इसके अतिरिक्त और नहीं हैं कि ये कवि पिछली परंपरा को नकारते हैं और परिवर्तित सौंदर्यबोध के पक्षधर हैं।[37] विभिन्न विषयों संवेदनाओं एवं मनः स्थितियों को व्यक्त करती हुई अकविता की सात पुस्तिकाएँ प्रकाशित हुईं। इनके शीर्षक थे विघटन, शरीर (पैशन), मृत्यु, नगर, व्यक्ति आदि। तीसरे संकलन के संकेत में कहा गया "हमने वही काव्य मनःस्थितियाँ अपने विभिन्न अंकों के लिए चुनी हैं, जो आज के काव्य सृजन का मूल आधार रही हैं और जिनकी अनिवार्यता रचनाओं के परिप्रेक्ष्य में सिद्ध हो चुकी है, यों हम इन मनःस्थितियों से संपृक्त रचनायें चाहते अवश्य हैं किंतु सायास लिखी हुई कविताएँ हमें मान्य नहीं हैं।"[38]

इस प्रकार अकविता आंदोलन ने अपना एक स्पष्ट स्वरूप ग्रहण किया। उस समय उसका प्रभाव इतना था कि कई पत्रिकाओं ने अकविता के विशेषांक निकाल डाले। गोविन्द राय के सम्पादन में ग्वालियर से 'अकविता' नाम की पत्रिका निकली जिसके संपादन सलाहकार रमेश कुंतल मेघ, राजीव सक्सेना और रणजीत थे। यही पत्रिका डा. कोमल सिंह सोलंकी के सम्पादन में भी निकली। ललितकुमार श्रीवास्तव के संपादन में जबलपुर से 'कृति परिचय' पत्रिका का अकवितांक जून 1967 में प्रकाशित हुआ।

सातवें दशके के उत्तरार्ध तक अकविता आंदोलन एक वैचारिक आधार ग्रहण कर चुका था। परंपरा का निषेध, नग्न यथार्थ की अभिव्यक्ति एवं अराजक मनोदशा इसकी महत्वपूर्ण विशेषताएं थी। इसके प्रमुख कवियों में शामिल थे जगदीश चतुर्वेदी, सौमित्र मोहन, राजकमल चौधरी, मोना गुलाटी, श्याम परमार, मुद्रा राक्षस, गंगा प्रसाद विमल, मणिका मोहिनी आदि। लीलाधर जगूड़ी, राजीव सक्सेना, चंद्रकांत देवताले और सुदाम पाण्डेय धूमिल की कविताएँ भी इससे प्रभावित थीं। अकविता पत्रिका की उस समय इतनी ख्याति थी कि उसमें छपना कवियों के लिए गर्व की बात होती थी। इन कवियों ने परंपरा से विच्छिन्न होकर कविता के लिए नयी अंतर्वस्तु, भाषा एवं उपकरणों की तलाश शुरू की। जगदीश चतुर्वेदी ने अपने कविता संग्रह 'इतिहासहन्ता' (प्रकाशित 1970) में लिखित भूमिका में अपनी कविता को परिभाषित करते हुए लिखा "आज की कविता अस्वीकृति की, निषेध की अनिवार्यता को सहज मानकर स्वीकार करती है। उसे किसी प्रकार के व्यामोह या अतीतोन्मुख वैभव अथवा रागात्मकता से तीव्र घृणा है। आज का कवि रोमांटिक वृत्ति का विरोधी, परम्परा से मान्य काव्य रूढ़ियों का स्वाभावतः विघटन करने वाला और नये शब्दों का प्रस्तावक है। आज के समर्थ कवि नये काव्य का नया व्याकरण गढ़ने में रत हैं।

"वर्तमान के बीच बौना बनकर हाँफते हुए जीना मुझे अच्छा नहीं लगता। मैं काव्यरुचि तथा कवियों के संस्कारों में एक आमूल परिवर्तन की निष्ठा से बहुत कम पर अपरपंरा स्रोत से निसृत काव्य का सृजन करता हूँ।"[39] स्वयं इस संग्रह की कविताएँ उनकी इस चिंता का प्रमाण हैं –

मैं अब नहीं रचूँगा काव्य
नहीं करूँगा, अराधना या संभोग का अध्ययन
चुप–चाप देता रहूँगा गालियाँ अतीत को

और अंधे भविष्य का मुख नोचने के लिए
ताजा हड्डियों को घिसकर
पैने अस्त्र तैयार करूँगा। [40]

(जगदीश चतुर्वेदी)

कवि परंपरा को पूर्णतः त्याज्य मानता है क्योंकि दुःखद वर्तमान के लिए उसे वो रूढ़ियाँ ही उत्तरदायी लगती हैं जो उसे परंपरा ने प्रदान की है। जगदीश चतुर्वेदी ने अकविता में अ–का अर्थ नकारात्मक (Negative) रूप में नहीं अपितु विपरीतात्मक (Anti) अर्थ में लेने की वकालत की और अकविता को विपरीत कविता (Anti-Poetry) के रूप में परिभाषित किया। श्याम परमार ने इसे 'अंतर्विरोधों की अन्वेषक कविता' कहा। वास्तव में अकविता उन परंपरित मानवीय मूल्यों के विरूद्ध नवीन चेतना का उद्घोष है जिन्होंने जीवन को कुरूप एवं दोगला बना दिया है। ऐसे में अकविता इस वैचारिक दोगलेपन से मुक्त होकर मानवीय यथार्थ के वर्तमान स्वरूप की ओर रचनात्मक पुनर्वास की कोशिश हैं। अकवि के लिए यह सम्पूर्ण संसार ही विसंगति एवं विरोधाभासों से ग्रस्त है और मानवीयता इसके बीच त्रस्त है। अकवि इस भयावह संसार की कुरूपताओं को उघाड़ देना चाहता है –

एक विशाल सर्प की गिरफ्त में कैद है सारा शहर
और भयावह समुद्र मंथन के बीच पिस रहा हूँ मैं
उगल रही है संस्कृति ढेर सारे पिस्सू और गुबरीले और उदबिलाव
नंगे ओठों पर कोढ़ के घाव लिए मानवता चीख रही है लगातार। [41]

(जगदीश चतुर्वेदी)

अकवि इस चीखती मानवीयता को वाणी देना चाहता है। वह इसकी समस्याओं को आक्रामक शब्दों में व्यक्त करना चाहता है ताकि व्यवस्था भयभीत हो सके। "यह कृतित्व जिसे अकविता का विसंगत संसार कहा जाता है पूरे विश्व की उस टेढ़ी आँख का अंकन है जिसने सभी जर्जरित मानवीय मूल्यों को ध्वस्त कर दिया है और एक कुरूप, नंगा, विराट् अबाबील सा तैरता नर कंकाल हमारे सामने अट्टहास कर रहा है। इस अट्टहास को हमें शब्द देना है और उसके लिए हम नई भाषा की तलाश कर रहे हैं।[42]

इस भयावह परिवेश में कँपकँपा देने वाले यथार्थ को व्यक्त करने के लिए अकवि भाषा के परंपरागत अभिजात्य को तोड़ते हैं तथा नयी कविता में पायी जाने वाली असहायता को समाप्त कर उसे संघर्षशील बना देते हैं। संवेदना को उसकी चिकनी एवं तराशेदार सतह से निकालकर परिवेश की विसंगति में उसे टूटने एवं हाँफने के लिए छोड़ देते हैं। वे कविता को नैतिक एवं अनैतिक के द्वंद से हटाकर उस वर्जनामुक्त संसार में छोड़ देते हैं जहाँ यथार्थ का अंकन ही सबसे बड़ी नैतिकता है और परिवेश की सम्पूर्णता जिसकी मूलभूत अंतर्वस्तु। उन्हें कमजोर एवं यथास्थितिवादी काव्य से शिकायत है। वे एक ऐसी पीढ़ी पैदा करना चाहते हैं जो उस पारंपरिक वैभवोन्माद को लील जाए जिसने मानवता को कुरूप एवं लगड़ा बना दिया है। इसके लिए वे भाषा में आक्रामकता एवं अराजकता की हद फांद जाते हैं। वैसे इनके लिए किसी भी हद का कोई अस्तित्व भी नहीं न ही उसका कोई महत्व है, महत्वपूर्ण है सच को खुलकर कहना–

हट जाओ मेरे पास से बूढ़े हिंदुस्तान
मैं तुम्हारे घिघियाते चेहरे को डेढ़ हजार
वर्षों से देख रहा हूँ

.....

शीघ्र पैदा होगी एक सिरफिरी पीढ़ी
वैभव को भूनने जन्मेगा विद्रोह फिर से एक बार
और लील लेगा प्रोत्साहन, वैभव
और मवाद में लिथड़ा अन्धा भविष्य। [43]

(जगदीश चतुर्वेदी)

लीलाधर जगूड़ी अपनी कवि दृष्टि को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं "कविता भाषा में ढले हुए अनुभव की लगातार एक ऐसी मरम्मत है जो चिनी हुई दीवार के भीतर भी जारी है। पशुओं से लेकर पेड़ों तक जारी है। मनुष्य के अत्याचार से लेकर मनुष्य के विरोध तक जारी है। पत्थर से लेकर मूर्ति तक और मूर्ति से लेकर आत्मस्वीकृति और ग्लानि और आक्रोश के सबसे अधिक चमकीले या सबसे अधिक अंधेरे क्षण तक कविता इस संसार की निकृष्ट सार्थकता और विशिष्ट निरर्थकता के बीच भी जारी है। फिर भी कविता अमरता का नहीं, संघर्ष और मृत्यु का आलेख है।

"हमारी समूची नग्नता ही कविता के कपड़े हैं हम कविता के कपड़े नहीं उतार रहे बल्कि अपनी नंगई उजागर कर रहे हैं। कविता हमारी इच्छा, हमारे सपनों, हमारी स्वतंत्रता की असली जमीन है। लेकिन हर बार हम उन बैलों की तरह अपने ही सपनों पर मूत रहे हैं। रात अपनी संपूर्ण चालाकियों के साथ मौजूद है और दूर–दूर तक सुबह होने का कहीं भी कोई लक्षण नहीं फूट रहे हैं। कोई नहीं जाग रहा सिवाय गुलामों के लेकिन क्या गुलाम सचमुच जागृत हैं।"[44] स्वप्न भंग की इस स्थिति के फलस्वरूप अकवि के सामने पहचान का संकट पैदा हो गया है। "आदमी के अंदर आत्मा की एक घंटी थी जो छीज गयी हैं या बेआवाज हो गयी है। अब उसे फिर दुबारा कौन गढ़ेगा? इस बीच अपरिचय ने आत्मा को स्थानांतरित कर दिया है। अब हम एक दूसरे को निजी अपरिचय में जानते हैं। यह सम्बन्धों का एक नया संकट है। आत्मनिर्णय का सवाल उतना पेचीदा नहीं है जितना आत्म परिचय का है।"[45]

अकविता के कवियों का मुख्य उद्देश्य पाठक के मनोजगत को एक शॉक ट्रीटमेंट देना था। कविता इनके लिए व्यवस्था एवं मनुष्य के बीच के वैचारिक अन्तराल को व्यक्त करने का एक ऐसा माध्यम थी जिसके जरिए वे इस फाँक को व्यवहारिक धरातल दे सकें। पाठक को मानसिक उद्वेलन की चरम अवस्था में पहुँचाने के लिए ये संवेदना के गैप को और खुला छोड़ देते थे। सौमित्र मोहन ने इस पर विचार करते हुए कहा "मेरे विचार से नवलेखन और पाठक का परस्पर सम्बन्ध अनुपस्थिति का है। यह अनुपस्थिति ऐसी संवेदना है जहाँ घटना का बिना साक्षी हुए अनुभव करना होता है, क्योंकि नवलेखन संबोधन रहित है, इसलिए इसका मूलाभाव लोप होना है। यही कारण है कि नवलेखन पाठकों को सन्तोष नहीं देता बल्कि उसमें उसी के अपने अनुभवों का अधूरा और बार–बार अर्थहीन करता है। ऐसी स्थिति में नवलेखन पाठक का सहायक नहीं वरन् उसको उन निष्कर्षहीन स्थितियों में छोड़ देता है जो त्रास के सिवा कुछ भी नहीं दे सकतीं। व्यवहारिक दृष्टि से नवलेखन का कोई पाठक नहीं बल्कि पाठालोचक (टेक्स्ट क्रिटिक) है। .....खुद मेरा लेखन भी किसी को सम्बोधित नहीं है, बल्कि पहचान और गलत चीजों के साथ छूटते हुए साहचर्यों (Associations) का अवशेष है, जिसे मैं बार–बार पूरा करने की कोशिश करता रहता हूँ।"[46]

अकवियों के लिए कविता न तो भूत का गौरव गान है और न भविष्य का स्वप्न। कविता उनके लिए वर्तमान समय का यथातथ्य अंकन है। सौमित्र मोहन के शब्दों में "पिछली पीढ़ी को अमर मानने वाले कवियों द्वारा आस्था, उत्साह, जागरण, वर्तमान

प्रगति उज्ज्वल भविष्य की अक्सर बात की जाती है। मैं इन्हें भांड कवि मानता हूँ। इन्हें कोई परिवर्तन नहीं व्यापता। इनकी कविता में आपको हर रंग मिलेगा पर जहाँ तक आज की कविता का प्रश्न है, उसमें मात्र सामाजिक अन्तर्द्वन्दों का प्रतिविम्ब मिलेगा। इस कविता को मैं पब्लिक कन्फेशन मानता हूँ।"[47]

अकवि की धारण है कि शब्द और अर्थ का पुराना कलात्मक साहचर्य अब विघटित हो चुका है। मनुष्य एवं परिवेश के बीच उत्पन्न अलगाव के बीच से असंतुष्टि का वह दावानाल फूटता है जहाँ से अकविता के अराजक स्वरूप की उत्पत्ति होती है। ऐसे में नकारात्मक एवं सकारात्मक तथा आशावादी एवं निराशावादी होने से ज्यादा महत्वपूर्ण उसके लिए समय के सच के साथ चलना है। राजकमल चौधरी का मानना है "हमें शब्दों पर विश्वास है, लेकिन शब्दों के अर्थ पर नहीं। क्योंकि शब्द अपने पुराने अर्थ खो बैठे हैं ओर नए अर्थो को सहजतापूर्वक धारण करने लगे हैं। आदमी अपने बारे में और अपने इर्द गिर्द के बारे में अधिक निस्पृह (ब्रूट), अधिक असंलग्न हो गया है। तत्काल के सिवा और कोई काल चिंतनीय नहीं है। .....और हमलोग जिन्होंने 1960 के आस–पास लिखना शुरू किया है इस जनसाधारण में रहते हुए इस जनसाधारण के साथ जीते मरते हुए, नफरत करते हैं। हमलोग जनसाधारण से और जनसाधारण को यह निस्पृह, असंलग्न, रूप रंगहीन जीवन बिताने के लिए विवश करने वालों से नफरत करते हैं। हमलोग समाज से अलग नहीं हैं। अपराधियों का जीवन नहीं बिताते। अपने को अलग समझते हैं, ऊँचा नहीं समझते। 'अलग' भी केवल इस अर्थ में कि हम अपने पूर्वजों की तरह संतुष्ट या अपने पूर्ववर्तियों की तरह पराजित अथवा अपने चारों ओर नींद में डूबे हुए जनसाधारण की तरह निस्पृह नहीं हैं।

"हम नफरत करते हुए भी प्यार करते हैं। हम प्यार करते हुए भी सच को, गंदगी को, अंधेरे को, पापा को भूल नहीं पाते हैं। कविता हमारे लिए भावनाओं का मायाजाल नहीं है जिनके लिए कविता ऐसी थी वे लोग बीत चुके हैं।"[48]

राजकमल चौधरी का ऐसा विश्वास है कि भाषा एवं संवेदना के परंपरागत चौखटे में कविता को फिट करने से उसका दीर्घकालिक नुकसान हो रहा है –

सांवरी गगन की, मेघों के वसन
अनावृत्त नील वर्ण

विद्युत की दशन
नागरी विभावरी
भर रही है मोती से नीलम की झील
झील में तैरती है बावरी
चंदा की पुत्री.....
कि, कल्पना, उपमा, अलंकार, श्लेष
सब शेष, धोबी पे चढ़ बैठा है मेष
रह–रह है रेंकता उल्लू का पठ्ठा
और लगी है आग, पकता है भठ्ठा कविता का। [49]

(राजकमल चौधरी)

अकवि पुराने काव्यशास्त्रीय प्रतिमानों एवं वैचारिक पूर्वाग्रहो से मुक्त होकर कविता में तत्कालीन परिवेश को मुक्त वाणी देना चाहता है। उसने यह जान लिया है कि स्थितियाँ अमानवीय हैं और वर्तमान रास्ते से सुधार की आशा नगण्य है। इसलिए वह कविता में इन्हीं स्थितियों को व्यक्त करता है क्योंकि उसे छिपने की जगह नहीं तलाशनी है यथार्थ का सीधे–सीधे सामना करना है –

स्त्रियों की तिकोनी कब्रगाहों में
सिफलिसी शिश्न उग आए हैं
अपने देश का पुरूष मुंह के
रास्ते से करता है
वीर्यपात
इसलिए कितना जटिल हो गया
है–कवि कर्म
कितना कठिन हो गया है
इस धरती पर जीना
जहाँ पेयजल महँगा है
पेशाब
और कविता से महँगा है
पैशाची योनि धर्म।
अब कवि बेचारा क्या करे

किस मातृगर्भ में
वापस चला जाए अधोमुख
किस कब्रगाह में। [50]

(राजकमल चौधरी)

अकवि के लिए कविता परिस्थितिजन्य विवशता से उत्पन्न भावनात्मक पलायन नहीं अपितु समय एवं समाज में अपनी स्थिति को ठीक–ठीक प्रकार से समझना है चाहे वह स्थिति कितनी दुःखदायी क्यों न हो। वह सच से भागता नहीं अपितु उसे समझने की लगातार कोशिश करता है। उसके लिए कविता दुःख के मूल तक पहुँचने का साधन है –

जहाँ पहले कविताएँ अपनी गांठ बांधती थी
वहीं अब सिरोसिस का
दर्द उभरता है। [51]

(राजकमल चौधरी)

नैतिकता उसके लिए सबसे बड़ी कमजोरी है, धर्म पाँवों की बेड़ियाँ वह इनसे दूर चला जाना चाहता है–

हमारी पराजय का प्रथम कारण है नैतिकता
धर्म हमारे सामूहिक अपराध की प्रथम स्वीकृति
अन्न वस्त्र हमारे लिए प्रथम दंड
ज्ञान हमारा प्रथम अभाव..... [52]

(राजकमल चौधरी)

कविता के जरिए वह उस समस्त इतिहास एवं संस्कृति से उत्तर मांगना चाहता है जिसने वर्तमान अमानवीय परिवेश का सृजन किया है। वह कविता एवं कवि को उत्तरदायी बनाने की बजाय व्यवस्था को उत्तरदायी बनाने की वकालत करता है। वह मानता है कि व्यवस्था के बनाये गए नियमों के प्रति अगर उसका उत्तरदायित्व है तो व्यवस्था को भी इसका जवाब देना होगा कि इस उत्तरदायित्व को हजारो वर्षों से ओढ़े रहने के बावजूद भी परिस्थितियाँ आज भयावह एवं अमानवीय क्यों है? ऐसे में कविता उसके लिए व्यवस्था से उत्तर माँगने का एक औजार हो जाती है। एक यक्ष प्रश्न –

असंख्य उत्तरदायित्व डाले गए हैं मुझ पर
संस्कृति, ऐतिह्य परंपरा के उत्तरदायित्व का
उत्तर देना ही होगा मुझे
किंतु
कवि उत्तर देगा; संस्कृति के लिए अथवा
संस्कृति और ऐतिह्य से उत्तर मांगेगी कविता। [53]

(राजकमल चौधरी)

अकवि भावनाओं के मायाजाल से स्वयं को बाहर निकालकर इस भ्रष्ट एवं अराजक परिवेश से आहत मानवीय संवेदनाओं को अपनी आक्रामक वाणी देता है। इसके लिए वह भाषा के परंपरागत नैतिक चौखटे को तोड़ता है और रचनात्मक ईमानदारी की अपनी आधारभूत चिंता के साथ न्याय करते हुए भाषा को नग्न बना देता है। यहाँ भाषा प्रतीकों एवं बिम्बों का सहारा कम लेती है, जो है उसे सीधे, बेलाग दो–टूक शब्दों में कह देती है। उसे पता है कि कविता के जरिए वह स्थितियों में परिवर्तन नहीं ला सकता परंतु इसके जरिए वह सच एवं झूठ को स्पष्ट कर सकता है ऐसा उसका विश्वास है –

यह सच है कि कविता लिखकर गेहूँ की कीमत
घटाई नहीं जा सकती
और नहीं औरतों को रोका जाएगा गर्भ
धारण करने से
केवल कविता ही लिखकर किंतु गर्भाधान और
गेहूँ की झूठी राजनीति से मुक्त करेंगे
हमलोग। [54]

(राजकमल चौधरी)

अकविता पर यह आरोप लगाया गया कि वह भाषा के संस्कार को छिन्न–भिन्न कर साहित्यिक लूंपेनेगिरी कर रही है जिससे साहित्य का दीर्घकालिक नुकसान हो रहा है। ऐसे लोगों पर चंद्रकांत देवताले ने पलटकर वार किया "जहाँ हर चीज व्यक्तिगत धरातल से लेकर सार्वजनिक धरातल तक बेहद गड़बड़ है। वहाँ आप मुझसे किस भाषा का इस्तेमाल करने के लिए कहना चाहते हैं और आप या कोई कौन होते हैं, मैं हूँ सिर्फ मैं, अपने मृत अहम् और लाचार ईमानदारी के साथ मुझे खुद अपनी

भाषा तलाशनी हैं और यह जानते हुए कि भ्रष्ट परिवेश में व्यर्थ हो गयी है कविता मुझे उसी में मरना है।"[55]

अकविता पर कवि कर्म एवं मानवीय सभ्यता के प्रति आस्थाहीन होने का आरोप लगाया गया और उसे समाज के व्यापक एवं दीर्घकालिक हितों के प्रति लापरवाह घोषित किया गया। इसका खण्डन करते हुए जगदीश चतुर्वेदी ने कहा "जिस युग में हम जी रहे हैं और देश की जिन विडम्बनाओं से गुजर रहे हैं उनमें पहले कवि का प्रयास उस भ्रष्टाचार, अनीति या अज्ञान को सामने लाना है जिसने मानव हितों की लगातार अवहेलना की है। जब चारों ओर ऐसी व्यवस्था मेरे सहयोगियों को प्रताड़ित कर रही है, तब मुझे उसका नंगा नाच यथास्थिति के साथ स्पष्ट और तीखें शब्दों में पाठकों के सम्मुख उपस्थित करना एक अनिवार्यता लगती है। यह अनास्था कवि कर्म के प्रति नहीं है उन पाखण्डियों के प्रति है जिन्होंने देश और समाज में सड़ाँध कर दी है और नासमझ परिवारों ने आपसी सम्बन्धों में गहरी दरारें डाल कर अपने जीवन को हाहाकर में परिणत कर दिया है। यह अनास्था उस अंधेरे गर्त की ओर नहीं ले जाती जिसमें अंत विनाशेच्छा से भरा होता है। यह अनास्था तो परिवर्तनकामी है। यदि सीधे–सीधे कहूँ तो आस्था की ओर ले जाती है।"[56]

अकविता आंदोलन के एक प्रमुख कवि श्याम परमार की अकविता के सैद्धांतिक एवं साहित्यिक आधार तथा स्वरूप को स्पष्ट करती हुई 1968 में एक पुस्तक प्रकाशित हुई 'अकविता और कला सन्दर्भ'। इस पुस्तक के जरिए उन्होंने अकविता पर लगने वाले समस्त आरोपों का जवाब दिया और साहित्य में उसके ऐतिहासिक अवदान को स्पष्ट किया। मुक्तिबोध के कला के तीन क्षण सम्बन्धी काव्य सिद्धांत के माध्यम से उन्होंने अकविता को परिभाषित करते हुए लिखा "मुक्तिबोध ने कला के तीन क्षण की अनुभूति की है। कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव क्षण। दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपने कसकते दुःखते हुए मूलों से पृथक हो जाना और एक ऐसी फैंटेसी का रूप धारण कर लेना मानो वह फैण्टेसी अपनी आँखों के सामने ही खड़ी हो। तीसरा और अंतिम क्षण है इस फैण्टेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का आरंभ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णास्था तथा गतिमानता। मुझे लगता है कि कला का दूसरा और तीसरा क्षण दोनों अन्योन्याश्रित हैं। तीसरा भेद बहुत सूक्ष्म है और वह दूसरे से केवल शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया में ही अलग होता है। दूसरा क्षण अनुभव के मूल से व्यक्ति की सम्पृक्ति को पृथक् करता है। अनुभव की वैयक्तिकता पीढ़ी से इस क्षेत्र में वह अपने से

अलग खड़ा होता है। निर्वैयक्तिकता का यह क्षण ही अकविता की वर्तमान सृजन प्रक्रिया का प्रमुख क्षेत्र है।

"इस क्षेत्र के बहुत निकट संवेदना का क्षेत्र है और उसके अधिक करीब होने से निर्वैयक्तिकता का संवेदन ग्रस्त हो जाना बहुत सम्भव है। मुक्तिबोध ने दोनों क्षणों के बीच कल्पना के एक रोल की अवस्था अनुभव की है क्योंकि कल्पना यहाँ व्यक्ति को पीड़ाओं से मुक्त करती है। इस प्रकार व्यक्ति बद्ध पीड़ाओं से मुक्ति प्राप्त करने की अनुभूति कल्पना के माध्यम से व्यक्ति को उच्चतर स्थिति में ले जाना है। यह प्रक्रिया अकविता के लिए निराधार हो गयी है, उससे सम्बद्ध तीसरा क्षण अकविता के लिए और भी अनावश्यक हो गया है। कविता में अब भाव सम्पादन करना व्यर्थ का प्रयास भासित होता है। तीसरे क्षण की शब्द साधना, कांट–छांट, अर्थपरम्परा का आग्रह एवं एक प्रकार के फिनिश का लक्ष्य सभी दूसरे क्षण के निर्वैयक्तिक होने की प्रक्रिया साहित्य को जीर्ण एवं औपचारिक व्यवस्था की ओर ले जाते हैं। तथाकथित नयी कविता में इस आग्रह रक्षा की परिणति यह हुई कि वह कला के पहले और तीसरे क्षण के बीच झूलती रही। इस संदर्भ में कला का दूसरा क्षण ही अंतिम एवं महत्वपूर्ण क्षण लगता है। प्रथमानुभूति के धक्के से मुक्त होकर व्यक्ति इसी क्षण में निर्वैयक्तिक होता है और तदाकारिता से मुक्त मन तत्व के साथ तटस्थता का रूख उसे उपयुक्त लगता है।"[57]

सातवें दशके के अंत तक आते आते अकविता आंदोलन कमजोर पड़ने लगा। आठवें दशक की शुरूआत में हिन्दी कविता ने अपना चरित्र बदल लिया। प्रतिबद्ध कविता के आंदोलन ने जनवादी चरित्र की कविता के लिए उपयुक्त माहौल तैयार कर दिया था जिसके फलस्वरूप साहित्य और खासकर कविता को विचारधारा आधारित बनाने की कवायद ने जोर पकड़ा। अकविता जो की विचारधारा आधारित साहित्य की सिरे से खिलाफत करती थी, इस बदले माहौल में अप्रासंगिक सिद्ध होने लगी।

1972 में जगदीश चतुर्वेदी के संपादन में 'निषेध' का प्रकाशन हुआ जिसमें उनके अलावा अन्य संकलित कवि थे– कुमार विमल, मुद्रा राक्षस, रमेश गौड़, सकलदीप सिंह, सौमित्र मोहन, चंद्रकांत देवताले, श्याम परमार, रवीन्द्रनाथ त्यागी, विनय और परेश। यद्यपि इसमें प्रकाशित अधिकांश कवि अकविता आंदोलन से सम्बन्धित थे, परंतु उनकी भाषा एवं भंगिमा काफी बदली हुई थी। पहले की आक्रामकता में व्याप्त अराजकता ने कुछ–कुछ स्थायित्व ग्रहण करना शुरू कर दिया था। स्पष्ट है कि इन कवियों को भी लगने लगा था कि अब बदलाव की जरूरत है।

इसी दौरान अकविता आंदोलन से औपचारिक या अनौपचारिक रूप से सम्बन्धित कुमार विमल, चंद्रकांत देवताले, धूमिल, राजीव सक्सेना, लीलाधर जगूड़ी आदि कवि जनवादी कविता (प्रतिबद्ध कविता) की नव विकसित धारा की तरफ मुड़ गए। 1976 में अकविता पत्रिका का पुनर्प्रकाशन हुआ जिसके संपादकीय में जगदीश चतुर्वेदी ने बदली परिस्थितियों के हिसाब से सुर बदला और अकविता को भी प्रतिबद्ध कविता बताया "अकविता में पाया जाने वाला अस्वीकृति बोध या निषेध सायास नहीं है, यह युग सापेक्ष है। यह वर्तमान जीवन की परस्पर विरोधी स्थितियों को व्यक्त करता है। यह अप्रतिबद्धता नहीं है बल्कि मानव विरोधी स्थितियों से गहरी अनवरत् सम्पृक्ति की प्रतिक्रिया है। इसे नकारात्मक शून्य मान लेने से सही दृष्टि भ्रमित हो जाने की संभावना हो सकती है। यह अस्वीकृति समकालीन जीवन से समान्य परिस्थितियों से निर्मित है। जीवन के प्रति सम्बद्धता और मानवीय भावनाओं के प्रति प्रतिबद्धता से ही यह कविता उपजी है और इसे वर्तमान जीवन की प्रांजल अभिव्यक्ति के साथ भविष्य की संभावनाओं तथा वर्तमान के आसन्न संकट से जूझ कर स्वस्थ दिशा और जीवन क्रम के लिए प्रतिश्रुत मानना होगा। यह आज के भारतीय की सही कविता है। यह मानव हित और वृहत्तर मानवीय भावनाओं की सटीक अभिव्यक्ति है।"[58] इस संपादकीय से स्पष्ट है कि चतुर्वेदी जी दोहरी चिंता से ग्रस्त थे। एक ओर जहाँ वे अकविता की रूढ़ हो चुकी परम्परा को नयी दिशा देने की कोशिश कर रहे थे वहीं दूसरी ओर प्रतिबद्ध कविता के रूप में उभरे नवीन काव्य आंदोलन के द्वारा अकविता को अनास्था एवं अप्रतिबद्धता की कविता बताये जाने वाले आरोपों का जवाब भी दे रहे थे। अकविता को प्रतिबद्ध कविता बताकर वे जनवादी कविता के मूल चरित्र को अकविता का दाय बताने के चक्कर में थे ताकि उसे कोई नवीन काव्य आंदोलन न बताकर अकविता का ही नवीन उत्थान सिद्ध किया जा सके।

प्रतिबद्ध 'कविता को अकविता का नवीन उत्थान सिद्ध करने में तो उन्हें सफलता नहीं मिली परंतु अकविता के मूल चरित्र को जरुर नुकसान पहुँचा। क्योंकि अकविता के सृजन का उद्देश्य ही व्यवस्था को एक शाक ट्रीटमेंट देना था। वह अमानवीय परिवेश से उत्पन्न मानसिक विक्षोम की प्राकृतिक अराजक वाणी थी जो प्रतिबद्धता से ज्यादा अप्रतिबद्धता के गुणों से परिपूर्ण थी। वह उन समस्त पारंपरिक प्रतिमानों को प्रश्नांकित करती थी जो परिस्थिति की भयावहता और अमानवीयता के लिए जिम्मेदार थे। वह व्यवस्था के लिए कम प्रत्यनशील और अव्यवस्था उत्पन्न करने

के लिए अधिक प्रतिबद्ध थी क्योंकि व्यवस्था का होना उसके लिए परिस्थितियों की विद्रूपता पर पर्दा डालने के समान था।

लगभग 10 वर्षों के समय में व्यवस्था को नग्न करने की अपने प्रमुख लक्ष्य को अकविता पूरा कर चुकी थी। अब समय था व्यवस्था को नये सिरे से संयोजित कर उसे निर्मित करने का। अकविता यह कार्य नहीं कर सकती थी क्योंकि यह उसके उद्देश्यों में कभी था ही नहीं तो कार्यक्षेत्र में कहाँ से आता। अब जरूरत थी एक ऐसी काव्यधारा की जो जनोन्मुख विचारधारा का सूत्रपात करे ताकि अव्यवस्थित समाज और साहित्य को व्यवस्थित किया जा सके। अकविता का समाप्त होना अब एक ऐतिहासिक अनिवार्यता थी। यद्यपि अकविता आंदोलन के अधिकांश कवि बहुत बाद तक लिखते रहे परंतु 'निषेध' के प्रकाशन के साथ ही उनके स्वरों में शुरू हुआ परिवर्तन आगे चलकर एकदम् से स्पष्ट हो गया। जनवादी कविता ने अकविता को एक मेजर (मुख्य) काव्य आंदोलन के रूप में प्रतिस्थापित कर दिया और हिन्दी कविता को उन वृहत्तर मानवीय चिंताओं से जोड़ा जिनके अभाव में अकविता के अराजक परिवेश का सृजन हुआ था।

संदर्भ सूची

[1] पहल 58, अप्रैल जून 1998, पेज 43

[2] वही, पेज 43

[3] गिरिजा कुमार माथुर, नयी कविता सीमाएं और सम्भावनाएँ, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1993, पेज 7

[4] राजकुमार,हिन्दी साहित्य का चौथा दशक मूल्यों का संक्रमण एवं संघर्ष, ग्रंथलोक प्रकाशन, दिल्ली 2004, पेज 137

[5] वही, पेज 138

[6] वही, पेज 147

[7] वही, पेज 147

[8] आलोचना 77, पेज 134

[9] चौथा दशक मूल्यों का संक्रमण एवं संघर्ष, वही पेज 136

[10] देवशंकर नवीन (सं.), राजकमल चौधरी, बर्फ़ और सफेद कब्र पर एक फूल, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2006, पेज 360

[11] चौथा दशक मूल्यों का संक्रमण एवं संघर्ष, वही, पेज 152

[12] अज्ञेय (सं), दूसरा सप्तक, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, 2002 (पे. बै.), पेज 92

[13] वही, पेज 143–44

[14] वही, पेज 150

[15] अज्ञेय (सं) तीसरा सप्तक, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, 2003, (पे. बै.), पेज 238

[16] आलोचना, जुलाई सितम्बर 1968 पेज 92–93

[17] दूसरा सप्तक, वही पेज –165

[18] तीसरा सप्तक, वही पेज 173–74

[19] नयी कविता सीमाएं और सम्भावनाएँ, वही, पेज 14

[20] लक्ष्मीकांत वर्मा, नये प्रतिमान पुराने निकष, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, 1996, पेज 175

[21] वही, पेज 176

[22] आलोचना, जुलाई–सितम्बर 1968, पेज 95

[23] बच्चन सिंह, आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद (पे. बै.), 1999, पेज 297

[24] नयी कविता सीमाएं और सम्भावनाएँ, वही, पेज 12–13

[25] केदारनाथ सिंह, मेरे समय के शब्द, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1993, पेज 29

[26] स्वदेश भारती (सं.), साम्प्रतिक हिन्दी साहित्य (रचना और आलोचना) खण्ड एक,रूपाम्बरा प्रकाशन, कलकत्ता, 1981, पेज 61–62

[27] धर्मयुग, 29 मई 1966, पेज 5

[28] वही, पेज 5

[29] नया पथ (स्वाधीनता विशेषांक), अंक 24–25, जुलाई–सितम्बर 1997, पेज 55–56

[30] जगदीश चतुर्वेदी, अनुभूति चतुर्वेदी (सं.), जगदीश चतुर्वेदी रचनावली (खण्ड छः – आलोचना), नमन प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2002, पेज 310

[31] वही, पेज 313

[32] वही, पेज 313

[33] वही, पेज 248

[34] वही, पेज 250

[35] रश्मि रमानी, अकविता सन्दर्भ और जगदीश चतुर्वेदी की कविताएँ, अनुराग प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1994, पेज 28

[36] वही, पेज 28

[37] ललित शुक्ल, नया काव्य नये मूल्य, दि मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड, नयी दिल्ली, 1994, पेज 28

[38] वही, पेज 260

[39] जगदीश चतुर्वेदी, इतिहासहंता, जगतराम एण्ड संस, नई दिल्ली, 1984, 'आत्मकथ्य' से।

[40] वही, पेज 38

[41] वही, पेज 75

[42] जगदीश चतुर्वेदी रचनावली, वही पेज–321

[43] इतिहासहन्ता वही पेज 91

[44] पूर्वग्रह, अंक 14–15, मई–अगस्त 1976, पेज 43

[45] वही, पेज 44

[46] धर्मयुग, 5 फरवरी 1967, पेज 17

[47] राष्ट्रवाणी, सितम्बर–अक्टूबर 68, पेज 74

[48] बर्फ और सफेद कब्र पर एक फूल, वही, पेज 117

[49] देवशंकर नवीन (सं.), राजकमल चौधरी, आडिट रिपोर्ट, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली 2006, पेज 62

[50] वही, पेज 55

[51] वही, पेज 32

[52] वही, पेज 195

[53] वही, पेज 63

[54] वही, पेज 130

[55] कृति परिचय (अकवितांक), जून 1967, पेज 40

[56] जगदीश चतुर्वेदी,मेरे संस्मरण मेरे साक्षात्कार, श्री नटराज प्रकाशन, दिल्ली, 2003, पेज 194

[57] श्याम परमार, अकविता और कला संदर्भ, कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर, सितम्बर 1968, पेज 8–9

[58] जगदीश चतुर्वेदी रचनावली, वही, पेज 486

तृतीय अध्याय

अकविता की संवेदना

(क) अराजकता एवं परंपरा–निषेध

(ख) लोकतन्त्र–विरोध

(ग) यौन–विद्रोह

(घ) अलगाव–बोध

(ड.) काव्य अभिजात्य का निषेध

अकविता काव्य की पारंपरिक एवं प्रचलित धारणाओं से हटकर एक नवीन साहित्यिक चेतना की ओर उन्मुख होने की प्रक्रिया थी। स्वतंत्रता से लोगों में जगी उम्मीदें व्यवस्था की विफलता से धूमिल हो गयीं। नेहरू ने विज्ञान एवं मानवतावाद के सम्मिश्रण से जिस लोकतान्त्रिक–समाजवादी मॉडल के जरिए देश को संचालित किया था, उसमें देश के प्रत्येक वर्ग तक विकास के संसाधनों को पहुँचाने तथा उसके सहारे उन्हें विकासशील भारत की मुख्यधारा से जोड़ने की बात की गयी थी। परंतु यह कार्य नहीं हो सका। वास्तव में यह प्रक्रिया भारतीय समाज–व्यवस्था में व्याप्त अन्तरालों को ठीक ढंग से सम्बोधित न कर पायी। ये अंतराल थे ग्रामीण एवं शहरी अर्थतन्त्र के बीच की असंगति तथा विभिन्न सामाजिक वर्गों के बीच व्याप्त अधिकारों का असमान वितरण। उसने इन अन्तरालों के मूल कारणों में सुधार करने की बजाय उन्हें औद्योगीकरण, पंचायती राज एवं सामुदायिक विकास के दर्शनों से पाटने की कोशिश की। मलयज ने इस पर विचार करते हुए लिखा है "नेहरू ने विज्ञान को एक जीवन दर्शन–की सी ऊँचाई प्रदान की और उसे नव–स्वतंत्रता प्राप्त राष्ट्र के समक्ष एक विकल्प के रूप में प्रस्तावित किया। यह समय की मांग को देखते हुए था। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के वर्षों में बराबर महसूस किया जाता रहा कि राजनीतिक स्वतंत्रता ही काफी नहीं है और इस दृष्टि का सीधा ताल्लुक विज्ञान से माना गया। बड़े–बड़े कारखाने और इनसे प्रेरित एक व्यापक सक्रिय वैज्ञानिक चेतना जिससे आर्थिक उत्पादन को गति मिलती रहे। इस दीर्घसूत्री वैज्ञानिक भविष्यवाद में आम आदमी की जरूरतें और उनको आधार प्रदान करने वाला बुनियादी अर्थतन्त्र छिप गया, न इस अर्थतंत्र ने उपलब्ध साधनों का उपयोग किया न ही उन साधनों का विकास कर एक सुदृढ़ इन्फ्रास्ट्रक्चर निर्मित करने की कोशिश की गई जिसकी बुनियाद पर एक औद्योगिक समाज की नींव रखी जा सके। फलस्वरूप विज्ञान का विकल्प अर्थवान् नहीं हो पाया। समाज के भीतर गतिशीलता के न रहने से वह द्वंदात्मक प्रक्रिया अपेक्षित तेजी से नहीं चलने पाई जो विज्ञान की प्रेरणा को एक वास्तविक जीवन दर्शन के रूप में साकार कर पाती।"[1]

इस प्रक्रिया के फलस्वरूप विकास की अवधारणा व्यवहारिक सतह पर धुंधली पड़ती गयी। नौकरशाही में भ्रष्टाचार लगातार बढ़ता जा रहा था। राजनीति की स्थिति भी कुछ अच्छी न थी, लोकतंत्र से लोगों की आस्था टूटती जा रही थी। बढ़ते शहरीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप पारंपरिक सम्बन्ध विघटित होते जा रहे थे। जो नये सम्बन्ध बन रहे थे उनमें भावनात्मक ऊर्जा का अभाव था जिसके फलस्वरूप उनमें स्थायित्व एवं विश्वास के गुणों की कमी थी। वैदेशिक स्तर पर भी सरकारी नीतियाँ

असफल हो रही थीं। 1962 के भारत–चीन युद्ध ने उसको एक तगड़ा झटका दिया। पड़ोसी देशों के साथ भी सम्बन्ध सहज नहीं थे जिसका उदाहरण था 1965 का भारत–पाकिस्तान युद्ध। गुटनिरपेक्षता की नीति भी प्रश्नों के घेरे में आ गयी थी। सरकार शीत युद्ध के दो ध्रुवों सोवियत संघ एवं अमरीका के साथ सम्बन्धों को लेकर भी असमंजस का शिकार थी। आर्थिक विकास का नेहरूवियन–समाजवादी ढांचा भी चरमरा रहा था।

लोककल्याणकारी राज्य का स्वप्न बहुत तेजी से टूट रहा था। समाज का बहुसंख्यक वर्ग हताश हो चला था। उसे अब अपने कल्याण की कोई खास आशा नहीं रह गयी थी। इस दौरान हिन्दी साहित्य में जिस युवा पीढ़ी ने कदम रखा वह संक्रमण के बेचैनियों की साक्षी थी। शिवकुमार मिश्र ने उस दौर के बारे में लिखा है "कदाचित् ही किसी युग की युवा पीढ़ी को इतने गहरे मानसिक त्रास का सामना करना पड़ा हो कि ठीक उसकी आँखों के सामने उसके प्राच्य उसके अपने भविष्य, उसके देश को उसके पूर्ववर्ती न केवल डकार रहे हों, आंखें भी दिखा रहे हों, उसे यह कहकर अपमानित भी कर रहे हों कि उन्होंने कुर्बानी देकर इस नई पीढ़ी के लिए ही देश को स्वतंत्र कराया। विक्षोभ, असंतोष, अनिश्चय, गतिरोध, तनाव एवं संत्रास की यह समष्टि ही है जो अनेक शुभ और अशुभ रूपों में आज की युवा पीढ़ी के सामने व्याप्त है और उनकी कविताओं में भी उन्हीं रूपों के दर्शन होते हैं।"[2]

अकविता इसी अराजक व्यवस्था से मोहभंग की रचनात्मक प्रतिक्रिया थी। अकविता ने सम्पूर्ण व्यवस्था को इस निराशाजनक परिवेश के लिए जिम्मेदार माना। इसके परिणामस्वरूप उसने व्यवस्था के आधार–स्तंभों पर गहरी चोट की। परिवेश की अमानवीयता ने अकवि को इतना आक्रामक बना डाला कि वह व्यवस्थाहीनता का खतरा उठाने को भी तैयार हो गया। इस सम्पूर्ण परिवेश से अकविता को जोड़ते हुए शंभूनाथ का मत है "अपने लम्बे जातीय जीवन में लोगों ने अकेलेपन और विच्छिन्नता का इतना कटु अनुभव कभी नहीं किया जितना सन् साठ के आस–पास, चारों तरफ ही अनिश्चितता और अस्पष्टता थी। जनतांत्रिक राजनैतिक शक्तियों के बिखराव ने जनता की प्रतिरोध चेतना को अंतर्मुखी कर दिया था। भारतीय समाज में संगठित ढंग से विकसित हो रहे पूँजीवाद की सफलता थी कि उसने व्यक्ति को आतंकित कर पहले उसे लघु मानव होने का अहसास कराया फिर निराशा, अकेलेपन और उद्विग्नता की स्थितियों में ढकेलकर उसकी अत्यंत पेचीदी नियति निर्धारित कर दी। उसकी आंतरिक प्रतिरोध चेतना का स्वर विरूपित कर दिया गया, ताकि अपशीलता के मूल्यों को पनपने का सही अवसर मिल सके। अपने आंतरिक तर्कों से विकसित होने वाली प्रौद्योगिकी ने

सहयोगी सामाजिक संगठनों द्वारा व्यक्ति का आत्महनन करना शुरू किया और उसके भीतर एक अंतर्विस्फोटक अंधकार की रचना की। इस अंधकार से जीवन की प्रगतिशील दृष्टि ढंकती गई। एक अराजक नैतिकता पनपी। व्यक्ति की निरंतर ह्रासशील आत्मसत्ता पर एक खास औपनिवेशिक सभ्यता की बदरंग चीजों को अपने चिन्ह अंकित करने की सुविधा मिल गयी। अकविता युग की ह्रासशील आत्मसत्ता ने अपने आस–पास के अमानवीय वातावरण से दिशाहीन विद्रोह के लिए निषेधवाद का रास्ता पकड़ा।''[3] अकविता की संवेदना का निर्माण इन्हीं परिस्थितियों में हुआ।

(क) अराजकता एवं परंपरा–निषेध :

अकविता का सम्पूर्ण रचना संसार अराजक एवं व्यवस्था विरोधी वक्तव्यों से भरा पड़ा है। संस्कृति एवं परंपरा से ये कवि अपने आप को पूर्णरूप से विच्छिन्न कर लेने के पक्ष में हैं। इस प्रक्रिया का कारण है व्यवस्था से इनका मोहभंग।

व्यवस्थाजन्य विसंगतियों से उत्पन्न विद्रूप ने इनके मानसिक अंतर्जगत् को विचलित एवं अव्यवस्थित कर दिया है। उन्हें ऐसा लगता है जैसे व्यवस्था गैरजवाबदेह और अपारदर्शी हो गयी है। उसे जनसामान्य के हितों से कोई खास लेना–देना नहीं रह गया है। इस मोहभंग ने इन्हें गहरी वितृष्णा से भर दिया है –

अचानक हमारी उपलब्धियाँ
हमारे कीर्तिमान
किरानियों और नर्सों के इस शहर के साथ,
सिनेमाघरों और अस्पतालों में
गायब होने लगे
इस सड़क पर सिर्फ एक मैं चलता रहा,
टूटी हुई झंडियां उठाए हुए,
बेच डाले गए नारों को समेटने के लिए।
– एक मैं चलता रहा
चरैवेति, चरैवेति, अब भी कोई मेरे अंदर
गूंजता रहता है
सत्तरह साल हो गए, पूरे सत्तरह
साल! चौथी योजना भी
अब पूरी होने को आई,
लेकिन

क्या हुआ? किसके लिए?
उत्तर कोई नहीं देगा
उत्तर नहीं है।

(राजकमल चौधरी)

वास्तव में यह व्यवस्था अपने वायदों के प्रति कभी ईमानदार नहीं रही। उसने नारों का इस्तेमाल जनता को छलने एवं उसके वोटों को हासिल करने के लिए किया परंतु जब उनको पूरा करने की बारी आयी तो जनहित अभिजात्य के हित में बदल गया। नतीजा यह हुआ कि समस्याएँ ज्यों की त्यों बनी रहीं। यह विघटित सामंतवाद एवं नव विकसित पूंजीवाद के बीच संस्थागत प्रबंधन के लिए हो रही खींच–तान थी जिसने सामान्य जनता के हितों को परे धकेल दिया था। अजय तिवारी के शब्दों में "इस समय तक स्वतंत्र भारत के पूंजीवादी विकास की प्रक्रिया से यह स्पष्ट हो चुका था कि सामंतवाद अपने पुराने संस्थागत रूप में सुरक्षित नहीं रह सकता। लेकिन, यह बात उस समय तक अधिकांश लोगों के सामने स्पष्ट नहीं हुई थी कि नया पूंजीवादी विकास सामंती अवशेषों को पूरी तरह मिटाना नहीं चाहता बल्कि थोड़ा–बहुत धक्का देकर अपने हितों के अनुकूल समझौते के लिए बाध्य करना चाहता है।"[5] इस प्रकार इस समझौते से अस्तित्व में आयी बुर्जुआ व्यवस्था ने नीतियों का निर्धारण एवं कार्यान्वयन अपने हितों की पूर्ति के लिए किया। इसके फलस्वरूप देश का युवा वर्ग सर्वाधिक हताश हुआ क्योंकि सर्वाधिक नश्तर उसके सपनों पर ही चले। इस स्वप्नभंग ने उसको भयानक मानसिक विषाद में डाल दिया। सम्पूर्ण व्यवस्था ही उसे ऐसी दीखने लगी, जिसे जनसामान्य का हित नहीं दीख रहा था –

मैंने रोजगार दफ्तर से गुजरते हुए –
नौजवान को
यह साफ–साफ कहते सुना है –
'इस देश की मिट्टी में
अपने जांगर का सुख तलाशना
अन्धी लड़की की आँखों में
उसके सहवास का सुख तलाशना है।

(धूमिल)

अकवि का विश्वास है कि यह सम्पूर्ण व्यवस्था ही रोगग्रस्त है। इसमें चारों ओर गंदगी, अव्यवस्था एवं सडांध फैली है जो लगातार बढ़ती ही जा रही है। वर्तमान पूरी तरह अव्यवस्थित तथा भविष्य अंधकारमय दीख रहा है –

मेरा देश और मेरे मनुष्य का भविष्य निर्धारित करने के लिए अतीत
निर्धारित करने के लिए
मैं इतिहास–पुस्तक की तरह खुला हुआ पड़ा हूँ
लेकिन मेरा देश मेरा पेट मेरा ब्लाडर मेरी अंतड़ियाँ खुलने से पहले
सर्जनों को यह जान लेना होगा
हर जगह नहीं है जल अथवा रक्त मांस
अथवा मिट्टी
केवल हवा कीड़े जख्म और गंदे पनाले हैं अधिक स्थानों पर इस देश में
जहाँ सड़क फट गयी है नसें वहाँ तक हवा नहीं
उपर की त्वचा चीरने पर आग नहीं निकलेगी न ही धुंआ
जठराग्नि – – – – – – – – दावानल
सब बुझ गए पहले पंद्रह अगस्त की पहली रात के बाद
अब राख ही राख बच गया है पीला मवाद।[7]

(राजकमल चौधरी)

इस रोगग्रस्त व्यवस्था से पीड़ित होकर अकवि का मोहभंग उसे उस परिवेश में ले जाता है जहाँ वह प्रतिबद्धता, नैतिकता, संस्कृति, परम्परा एवं राजनीति सबको नकारने लगता है। इस प्रक्रिया के दौरान उसका मानसिक संवेदन उस परिवेश में पहुँच जाता है जहाँ नकार की मुद्रा ही मुख्य हो जाती है। परम्परा को वह तहस–नहस कर देना चाहता है –

ओ कर्मकाण्डी भारत
मुझे तुमसे, तुम्हारे सांस्कृतिक वैभव और यश से बू आती है
– – – – – – – – – – – – – – –
हट जाओ मेरे पास से बूढ़े हिन्दुस्तान
मैं तुम्हारे घिघियाते चेहरे को डेढ़ हजार वर्षों से देख रहा हूँ
– – – – – – – – – – – – – – –
ओ बेशर्म ठिठुरे देश
स्वतंत्रता ने हमको दी है केवल उदासी और बेहोशी
और चापलूसी और मक्कारी
– – – – – – – – – – – – – – –
हिंदुस्तान

तुमने भविष्य का इंतजार करने वाले मूर्खों की एक लम्बी जमात को शह दी है।

(जगदीश चतुर्वेदी)

इस प्रक्रिया में वह अराजक हो जाता है। उसका विरोध दिशाहीन एवं विकल्पहीन लगता है। परन्तु इसकी उसे कोई खास चिंता भी नहीं। वह तो प्रचलित मान्यताओं को अपने अराजक एवं अश्लील वक्तव्यों से तोड़ना चाहता है। यह दिशाहीनता उस समय के समाज की उपज है जो स्वयं विकल्पहीन हो चुका था। अजय तिवारी के शब्दों में "छात्र असंतोष हों या सम्विद सरकारें, साठोत्तरी जीवन में समाज और राजनीति की प्रवृत्तियाँ दिशाहीन और अस्पष्ट थीं।"[9] यह विकल्पहीनता अकविता के अराजक संसार को अव्यवस्था एवं नाटकीयता की तरफ धकेलती है जहाँ व्यवस्था को हास्यास्पद सिद्ध करने के लिए उसके विरोध में नाटकीय वक्तव्यों का सहारा लिया जाता है। प्रचलित मान्यताओं को अनैतिक प्रक्रियाओं एवं अश्लील शब्दावलियों द्वारा तोड़ा जाता है। यह अतिरंजना अकविता के अराजक काव्यलोक की एक महत्वपूर्ण विशेषता है –

आप अच्छी तरह जानते हैं कि हमारी नियति उन लोगों के हाथ में
है जिन्हें हम नहीं जानते हैं और जो हमारे प्रतिनिधि हैं
उसने कहा था : हम संक्रान्ति काल में नहीं एक अंधेरी खोह
में रह रहे हैं जिसका मुहाना नेहरू सिक्के से ढंका हुआ है
यहाँ पेशाब करना मना है पढ़कर भी लोग वहीं पेशाब
क्यों करते हैं? आप इसे असभ्यता कहेंगे पर यह आक्रोश
का कहीं अच्छा तरीका है सिगरेट कुचलने से।[10]

(सौमित्र मोहन)

इन कवियों की मान्यता है कि सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था रोगग्रस्त है। उसके इस रोगग्रस्त ढांचे के दबाब ने ही इन्हें भी मानसिक रूप से असंतुलित किया है। इनका आक्रोश एवं विषाद दोनों ही इस व्यवस्था की ही देन हैं। राजकमल चौधरी स्वीकार करते हैं "समसामयिक कवि बीमार है, लेकिन उसकी बीमारी उसके परिवेश और उसके पूरे समाज की बीमारी है जिसके बारे में वह अपनी कविताएँ लिखता है। वह 'कवि कल्पना' का बीमार नहीं है, उसकी लगातार बीमारियाँ सही और सकारण हैं। वह अपनी बीमारियों को समझता है और उनका सही इलाज ढूँढने में व्यस्त है।"[11]

इस इलाज ढूँढ़ने की प्रक्रिया में वैचारिक चिंतन से गुजरते हुए उसे ऐसा लगता है कि संस्कृति एवं परंपरा उसकी दुर्दशा के लिए सर्वाधिक उत्तरदायी हैं क्योंकि

उन्होंने व्यवस्था की दुर्दशा करने वाली शक्तियों के हाथ मजबूत किए हैं। इन्होंने व्यवस्था को वह परदा एवं सुरक्षा कवच उपलब्ध कराया है जिसकी आड़ में उसने जनहितों को दबाने का खेल खुलकर खेला है। जनता को लगातार छला है –

तुम देखती रही हो भागीरथी। मेरे अंतर्द्वंद की यातना के दृश्य
गैरों की दासता में जीने या अपनी ही दासता में मरने का संघर्ष
माँ की तरह कई बार मरकर भी जिंदा निगाहों से देखती रही हो तुम
(नहीं तो कौन?)
कि मेरे शिशुओं और प्रेमियों की नग्नता को दासों का नंगापन
और किसलिए बना दिया?[12]

(राजकमल चौधरी)

अपनी एक महिला मित्र से राजकमल ने कहा था "आपका जो समाज है, जो परिवार है, जो देश है वह मेरा परिवार या देश नहीं है। आप मेरे समाज में हो सकती हैं, लेकिन मैं आपके समाज में नहीं हूँ।"[13] ऐसा कहते समय राजकमल उस बीमारु व्यवस्था से ही पीड़ित थे फलस्वरूप वे अपने आपको उससे बाहर निकाल लेना चाहते थे। उनका विश्वास था कि इस सभ्यता एवं संस्कृति के सारे तत्व अमानवीय एवं आउटडेटेड हो चुके हैं जनहित का यहाँ कोई अस्तित्व नहीं है। प्रभुसत्ता इलीट में केन्द्रित हो चुकी है तथा उसके इशारे पर सबकुछ संचालित हो रहा है। कवि स्वयं को इस अमानवीय समाज से बाहर खींच लेना चाहता है। इस उद्देश्य से वह उस पर भयानक प्रत्याक्रमण करता है –

पूरी मनुष्यता को बांटकर, विलगाकर
कुचलकर, बरगलाकर, हांककर, लड़ाकर
मनमाने कानून और प्रचलन का कैदी बनाकर
राज भोगती प्रभुसत्ता के
इशारों पर बढ़ता इतिहास
स्वार्थ–जाल के धर्म, जातीयता, संस्कृति–सभ्यता का विकास
पकड़ में आ गया, तो क्या पाया
सभ्यता की दुनिया अब बूढ़ी पड़ चुकी।[14]

(राजकमल चौधरी)

अलेक्सान्द्र सेन्केविच ने अकविता के इस सभ्यता–संस्कृति विरोध पर टिप्पणी करते हुए लिखा है "अकवि यह नहीं मानते कि उच्च आध्यात्मिक मूल्यों के संघर्ष में संस्कृति का कोई योगदान हो सकता है। उनके अनुसार संस्कृति परस्पर

विरोधी वर्गों के समाज की उपज है और हमेशा मानवीय व्यक्तित्व की विरोधी रही है। ... .पुरानी संस्कृति, यदि अपने दिन गिन रही है तो नयी बुर्जआ संस्कृति से मनुष्य को दहशत होती है। वह उसे सच्चाई निष्ठा एवं आध्यात्मिकता की सीमाओं से बाहर धकेल देती है। कवि जिस दोराहे पर खड़ा है। उसे काव्यहीन, सौंदर्यहीन व रहस्यों से वंचित संसार स्वीकार नहीं और न ही पुरानी कथाओं का वह संसार स्वीकार है जिनमें उसकी जाति का सदियों पुराना आध्यात्मिक विकास व भटकाव अंकित हुए हैं।''[15] सेन्केविच का यह कथन कि संस्कृति के किसी योगदान को अकवि नकारते हैं सही नहीं जान पड़ता क्योंकि संस्कृतिहीनता की स्थिति संस्कृति के सही काम न कर पाने के दर्द का नतीजा है। अगर ये कवि संस्कृति की किसी भूमिका को नहीं स्वीकारते तो फिर ये संस्कृति की अमानवीयता एवं विफलता से इतने गहरे नहीं टूटते। राजकमल चौधरी ने खुद स्वीकार किया है –

असंख्य उत्तरदायित्व डाले गए हैं मुझ पर
संस्कृति, ऐतिह्य परंपरा के उत्तरदायित्व का
उत्तर देना ही होगा मुझे
किन्तु,
कवि उत्तर देगा, संस्कृति के लिए अथवा
संस्कृति और ऐतिह्य से उत्तर मांगेगी कविता।[16]

अर्थात् वह संस्कृति से उत्तर मांगना चाहता है। यह जानना चाहता है कि उसकी विफलता के बाद भी वह उसे गले क्यों लगाए रहे। अगर वह अपनी प्रासंगिकता खो चुकी है तो क्यों न वह उसे नकार दे। इस उद्देश्य से वह प्राचीन पारंपरिक मूल्यों पर प्रहार करता है। नवविकसित बुर्जुआ संस्कृति में भी वह अपने को सहज महसूस नहीं कर पाता। फलतः उससे भी स्वयं को बाहर निकाल लेता है। वास्तव में संस्कृतिहीनता की यह स्थिति किसी उचित विकल्प के अभाव से उपजी है। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि क्या अकविता इसका विकल्प देती है? उत्तर है नहीं। सिर्फ सांस्कृतिक अवमूल्यन के कारणों को गिना देने से काम नहीं चलता बेहतर विकल्प भी सामने रखना पड़ता है। इस क्षेत्र में अकविता की विफलता उसे अराजकतावाद की तरफ धकेलती है। जहाँ प्रचलित संस्कृति के विरोध का प्रश्न संस्कृतिहीनता में परिणत हो जाता है। यह अकविता के रचना जगत् की एक प्रमुख कमजोरी है।

प्रचलित परंपरा से अकविता का यह अलगाव उसे सर्वग्राही निषेध की तरफ ले जाता है। उसे लगता है कि समस्त ऐतिहासिक प्रक्रियाएँ समस्याग्रस्त रही हैं। अतः वह इतिहास के उन समस्याग्रस्त मुकामों पर अंगुली रखती है –

मुझे
लगता है मेरे लिए होना चाहिए
वियतनाम में एक और युद्ध, फ्रांस में एक क्रांति मैंने
बहुत बार सोचा हैं अच्छा होता यदि वास्कोडिगामा न ढूढ़ता ग्लोब का
चपटा हिस्सा और
न होता प्लासी में युद्ध, मेरे देश को मिला होता इंकलाब
गांधी के सत्याग्रहों से नहीं, आजाद हिंद सेना की दनदनाती गोलियों से[17]

(मोना गुलाटी)

इतिहास की प्रक्रियाओं में परिवर्तन की इच्छा का स्वप्न एक तरह से परंपरा के विरोध एवं उसमें परिवर्तन की आकांक्षा का ही प्रतिफलन है। ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के फलस्वरूप विकसित समाज में ही वह परंपराएँ प्रचलित हैं जो व्यवस्था की सम्पूर्ण अमानवीयता के लिए जिम्मेदार है। अकवि समाज निर्माण की उस ऐतिहासिक प्रक्रिया में निर्णायक परिवर्तन का आकांक्षी है। इन ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के फलस्वरूप निर्मित मान्यताओं ने उसे सिर्फ समस्याएँ दी हैं, विसंगति एंव विद्रूप से उसका परिचय कराया है। फलस्वरूप वह इन सबको छोड़ देना चाहता है –

पराजय के तीस वर्षों में एकत्र की गयी धर्म सेक्स इतिहास
समाज परिकल्पना ज्योतिष की किताबें डाक–टिकट
सिक्के सोवेनिर
मैं बड़े डाकघर के बहुत बड़े लेटरबाक्स में डाल आया
वापस आकर मैंने अपनी स्त्री से कहा पुलिस अफसर कवि मित्र पार्टी कामरेड
कोई भी मिलने आए–सूचित करना है
सबके लिए सबके हित में अस्पताल चला गया है
राजकमल चौधरी [18]

(राजकमल चौधरी)

सबके हित में अस्पताल जाने की इच्छा सामाजिक विसंगतियों एवं पराजयों से उभरी है। व्यवस्था बदल नहीं रही, उसमें रहा नहीं जा सकता। फिर क्या किया जाय यह उधेड़बुन अकवि को उस मानसिक विषाद की ओर धकेलती है जहाँ उसे लगता है कि प्रचलित एवं पारंपरिक धारणाओं के सहारे जीवन जीने से अब कोई फायदा नहीं। उसकी परिणति बीमारु–समाज के रूप में उसके सामने हैं, जिसमें वह खुद शामिल है। अतः वह इससे बाहर निकल जाता है। अकविता की परंपरा के प्रति

निषेध और इतिहास विच्छिन्नता की प्रवृत्ति का विश्लेषण करते हुए श्याम परमार ने लिखा है "परम्परा आदमी की दाढ़ी की तरह है जो बार–बार उग आती है और हर बार आदमी उसकी पौध को काट फेंकता है। प्रश्न यह है कि उसे कौन कितना काटता है? जाहिर है, कुछ उस पौध की बढ़त को सहेजते हैं, इस सीमा तक कि उसका आगे बढ़ना रूक जाता है तथा कुछ हैं कि उसकी थोड़ी बहुत काँट–छाँट करते हैं लेकिन कुछ उसे जड़ों के नजदीक तक नष्ट करते हैं। इस अहसास के साथ कि वह अंदर मौजूद हैं और कल फिर उग आयेगी।

"अकविता निश्चय ही अंतिम पक्ष में विश्वास करती है। उसे परम्परा के भीतर होने का बोध है, लेकिन उसे काटते चले जाना होगा क्योंकि वह व्यर्थ है। काटते चले जाने की कोशिश नकारात्मक गति है। इस दृष्टि से अकविता न 'अव्यवस्थित' एवं 'असंयोजित' कथन है, न 'अनर्गल' और 'अर्थहीन' रचनाओं का संचयन।"[19] अकविता की यह परंपरा विच्छिन्नता नकारात्मक होते हुए भी व्यवस्था सुधार के सकारात्मक स्वप्न को अपने अंदर समेटे हुए है।

सभ्यता, संस्कृति, परंपरा एवं इतिहास के प्रति यह निषेधमयी दृष्टि एक ऐसी ग्रंथि का रूप ले लेती है, जहाँ सब कुछ अमानवीय–सा दीखने लगता है। सामाजिक व्यवस्था में व्याप्त अंतर्विरोधों से टकराकर कवि का वैचारिक संवेदन उनके बीच की फांक को दुरुस्त करने के बजाय उनको और स्पष्ट रूप से उभारता है –

सभ्यता की उबकाई सड़े हुए दांतों में
ढेर सारे बीजों को फोड़ती है
अर्थ की लम्बी शहतीरों पर इसकी पांडुर निगाहें
टार्च की रोशनियां फेंकती है
– – – – – – – – – – – – – – – –
खोखला इतिहास रीढ़ को ठोकर देता
लॉन पर दौड़ते अलसेशियन की पीठ पर
चढ़ जाता है
– – – – – – – – – – – – – – – –
निशानों के नीचे दबे
अर्थ के अकच्छ अकाय में बार–बार विस्फोट होते हैं
और लोहे की किरचों से छिदी आँखों से
रक्त की जगह मरे हुए साँपों के केचुल गिरते हैं।[20]

अकविता की इस स्थिति पर विचार करते हुए विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने लिखा है "ऐतिहासिक दृष्टि के अभाव में संवेदनशील लेखक, विशेषकर कवि यथार्थ की प्रतिकूलता को शाश्वत मानकर जीवन मात्र के प्रति निषेध का रुख अपना लेते हैं। यह निषेधवाद अकवियों में सर्वाधिक मात्रा में मिलता है क्योंकि उन्होंने मानव प्रगति या सामाजिक विकास की द्वंदात्मक कल्लोलों और गतियों का अवगाहन नहीं किया है। उनकी कविताओं में जीवन और जन के प्रति निषेधवाद के कारण घृणा का भाव है। मंशाओं की दृष्टि से अकवि भी अपने मन का संसार और समाज चाहते हैं किन्तु इसके लिए काम करने वालों और बदलाव विरोधी लोगों में वे अन्तर नहीं करते। उन्हें न अपने पर विश्वास है और न उन पर जो स्थापित व्यवस्था से टकरा रहे हैं। उन्हें सर्वत्र जघन्यता ही नजर आती है।

"निषेधमयी नजर आत्मघृणा में बदलती हैं और नफरत की हालत में कवि या अकवि एक निराकार घृणा की बद्धमूल मनोदृष्टि में परिवेश और परिदृश्य के घिनौनेपन तक ही सीमित हो जाता है।"[21] परिदृश्य के घिनौनेपन को व्यक्त करने के लिए वह अराजक काव्य का व्याकरण रचता है। संतुलन एवं स्थापना की अवधारणाओं से विरत होकर उसका मनोलोक व्यवस्था की तोड़फोड़ में रत हो जाता है। नाटकीय शब्दावली एवं अपारम्परिक काव्य भंगिमाओं द्वारा वह व्यवस्था में व्यक्ति की लाचारी को व्यक्त करता है, उसमें खुद को अनफिट पाता है फलतः प्रचलित समाज व्यवस्था को अश्लील तर्कों द्वारा अपमानित करता है –

अफीम को राष्ट्रीय पेय द्रव्य बनाया जाए और
अशोकस्तंभी सिंहो के बदले में गधों को
राष्ट्रीय पशु प्रतीक
सर्वसहमति से प्रस्ताव पारित करते हैं हमलोग
– – – – – – – – – – – – – – – – –
पटना संग्रहालय में मौर्यकालीन मूर्तियों के पास
खड़े होकर हस्तमैथुन करने की अनुमति
चाहता है अमर सिंह
– – – – – – – – – – – – – – – – –
संजय सहाय को कुछ नहीं चाहिए इसके सिवा
उसे दस–दस वर्षों तक क्रमशः
अस्पताल
जेल और पागलखाने में

तीसरे दर्जे का बीमार कैदी बनकर रह जाने का
अवसर दिया जाय
इस देश का इतिहास लिखने के लिए। [22]

(राजकमल चौधरी)

इस प्रकार के अराजक काव्य लोक के पीछे अकवि का अपना मजबूत वैचारिक तर्क है। वह इस प्रक्रिया के जरिए उन समस्त वैचारिक पूर्वाग्रहों से अपने को बचा लेना चाहता है जिन्होंने सभ्यता एवं संस्कृति के नाम पर ऐतिहासिक निर्माण की प्रक्रिया को अमानवीय बना डाला है। अकविता इस सम्पूर्ण विद्रूप को छिन्न–भिन्न कर देना चाहती है। उसकी इस प्रक्रिया के कारण उसे गंभीर वैचारिक चिंतन से रहित सिद्ध किया जाता रहा है। ऐसा माना जाता रहा है कि उसका यह अराजक काव्यलोक किसी व्यवस्थित एवं संतुलित समाज की स्थापना की चिंताओं से विरत होकर वैयक्तिक कुण्ठा के दिग्दर्शन के लिए शाब्दिक बाजीगरी का निरर्थक प्रयास है।

परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि गंभीर एवं व्यवस्थित चिंतन के लिए जिस संतुलित वातावरण की आवश्यकता होती है क्या ये कवि उस वातावरण में लिख रहे थे। उत्तर नहीं में होगा। अकविता स्वातंत्र्योत्तर भारतीय इतिहास के सर्वाधिक संक्रमणकालीन समय की उपज है। इसलिए उससे गंभीरता एवं संतुलन की मांग करना एक हद तक बेमानी है। यह एक स्वाभाविक परिघटना है कि वह इस कंपकपा देने वाले संत्रस्त समय एवं संसार के प्रति आक्रामक रवैया अपनाए। सभ्यता एवं संस्कृति की बात करना एक तरह से व्यवस्था के हाथों में खेलना है जिसने इनकी आड़ में खुलकर अपना अमानवीय खेल खेला है –

कपड़ों के नीचे छिपी हुई नैतिकता के लिए
क्या सबकी नसों में सही घमण्ड है?
वह इतना जानता है
अपराधों के उजाले में बरखास्त रहकर
हथकण्डा दिखाने के लिए
सभ्यता आदमी होने का दण्ड है। [23]

(लीलाधर जगूड़ी)

अकवि प्रचलित सभ्यता को एक दण्ड के रूप में स्वीकार नहीं करना चाहता। चूँकि उसका कोई सकारात्मक मूल्य नहीं रह गया है अतः उसे नकारना ही श्रेयस्कर है। चंचल चौहान ने अकविता की इस प्रवृत्ति पर विचार करते हुए लिखा है "नई कविता ने पूँजीवादी–सामंती चेतना को सजे संवरे रूप में पेश किया था, अकवियों

ने उसे नंगा करके चौराहे पर खड़ा कर दिया। मात्रात्मक रूप में अकविता में शोषक वर्गों की रूग्ण मानसिकता और पतनशील संस्कृति का ही प्रतिफलन हुआ है।"[24]

अकविता ऐतिहासिक निर्माण की प्रक्रिया की विफलता से उत्पन्न मानसिक विचलन की कविता है। अकवियों को स्पष्ट रूप से यह पता है कि हमारी सभ्यता गंभीर रूप से बीमार है। उसको बेतरतीब एवं निर्मम शल्यक्रिया की जरूरत है। इसलिए इस उद्देश्य हेतु वह प्रचलित धारणाओं पर खुलकर वार करता है –

मेरी इच्छा इतिहास खोदने की नहीं है। मेरी कामना अब तुम्हें ही
तुम्हारा भद्दा आकार, घिनौना परिवेश और फूहड़ परिवार
सौंप कर
एक अपंग तलहटी में कूद जाने की है।[25]

(मोना गुलाटी)

इतिहास न खोदने की इच्छा का सम्बन्ध इतिहास को नकारने से ज्यादा उन ऐतिहासिक परंपराओं के प्रति वितृष्णा का द्योतक है जिन्होंने व्यवस्था को अपंग बना रखा है। इस प्रस्थान बिन्दु से अकविता के रचना जगत् की सबसे गंभीर समस्या शुरू होती है। यह समस्या है व्यवस्था के विकल्प की। सबकुछ खंडित एवं समस्याग्रस्त है। चारों तरफ निराशा एवं पलायन का माहौल है। अकवि इस संत्रस्त परिवेश में फंस गया है। इस परिवेश ने उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को असंतुलित कर दिया है। वह लगातार इससे गहन वैचारिक एवं व्यवहारिक स्तर पर जूझता है। उसे विकल्प खोजने की चिंता तो है, पर न तो वह उसकी तरफ पूरा ध्यान लगा पाता है (क्योंकि उसकी मुख्य चिंता ध्वंस की है) न ही कोई विकल्प उसके सामने आता है। लगातार इस भयानक एवं बेचैन कर देने वाले परिवेश के बीच से गुजरते हुएं उसका मानसिक विषाद उसे मानसिक अवसाद की प्रारंभिक अवस्था में पहुँचा देता है। इस अवस्था में वह सम्पूर्ण परिवेश से आत्मनिर्वासित होकर अराजकता के मिथक रचता है। ऐसे मिथक जिसमें वह सिर्फ अकेला समय एवं समाज से दूर सभ्यता की बर्बादी का तमाशा देखता है। उसके लिए मानवीय संवेदनाएँ, लिजलिजी भावुकताएँ और सामाजिक सम्बन्ध व्यवस्था की मार में व्यर्थ हो चुके हैं, अपनी प्रासंगिकता खो चुके हैं। उसकी इच्छा इस सम्पूर्ण परिवेश को एक अनिर्दिष्ट व्याघात से भरकर हाहाकार मचा देने की है। वह अब मानवीय स्वप्नों पर हो रहे आघात की नियमित परंतु वैयक्तिक एवं छोटी–छोटी दुर्घटनाओं से बहुत व्यथित हो चुका उसे अब एक एक बहुत बड़ी भयानक दुर्घटना चाहिए जिसमें जो है वह सब तहस–नहस हो जाए–

मैं आसपास के घरों में एक हाहाकार चाहता हूँ

एक अनिर्दिष्ट व्याघात।
मैं तमाम यात्राओं को दुर्घटना में बदल देना चाहता हूँ
मैं प्रेम करते युग्मों को आग के जलते कंटूरों पर बिठाकर
मांस गंध को चिरियाते देखना चाहता हूँ
मैं चाहता हूँ विनाश
इन कीड़ों से मानव पिंडों के लिए मेरे मन में कोई दया नहीं। [26]

(जगदीश चतुर्वेदी)

वह समस्त सम्बन्ध–आधारों से अपने को काटकर पूर्ण रूप से वैयक्तिक हो जाना चाहता है। यह वैयक्तिकता आदिम अवस्था की ओर लौटने की प्रतिगामी कोशिश है, जिसके एकांतवास में सभ्यता के दुर्गुणों की आँच से बचा जा सके। यह इतिहास की गति को समय–निरपेक्ष तथा चिंतन को समाज–निरपेक्ष कर प्राचीन–व्यवस्था की आदिम गुहा में सर छिपाने का पलायनवादी प्रयास है जिसका कोई प्रासंगिक अर्थ नहीं है। विषमताओं एवं विपरीत परिस्थितियों से टकराने की अपेक्षा उनसे स्वयं को काटकर उनकी समाप्ति का ख्वाब देखना एक तरह से समाज की प्रतिक्रियावादी शक्तियों के हाथ मजबूत करना ही है। वास्तव में व्यवस्था से सार्थक रणनीतिक टकराव के अभाव में सिर्फ और सिर्फ विरोध (वह भी विकल्पहीन) की मानसिकता की यह स्थायी काव्य परिणति है। यह परिणति पहले तो समाज से व्यक्ति को निरपेक्ष करती है। अब चूंकि समाज की विसंगतियों से कोई सार्थक टक्कर तो हुई नहीं अपितु एक तरह से व्यक्ति पलायित हो गया, फलतः व्यवस्था तो वैसी ही रहेगी। नतीजा यह कि अलगाव–बोध से त्रस्त व्यक्ति आत्मदाह की स्थिति तक पहुँच जाता है। व्यवस्था में खुद को अनफिट पाने के दर्द को सार्थक संघर्ष की व्यापक भावभूमि न देने की विफलता के परिणामस्वरूप अकविता का वह अत्यंत अराजक काव्यलोक उपजता है, जहाँ सृजन और संतुलन नहीं ध्वंस ही प्रधान हो जाता है। यह अकारण नहीं कि अकविता का यह सर्वग्राही निषेध एवं करूण रोदन उसे मृत्युबोध की परिणति तक ले जाकर छोड़ता है। मृत्यु भी यहाँ स्वाभाविक नहीं 'इंटेशनल' है –

पूरी पीढ़ी बंजर हो और बंजर रहे मेरे देश की धरती
मुझे नहीं आकांक्षा किसी के जीवन या मृत्यु की
काली और सपाट आँखों से देखते हुए मैं
हत्याएँ करूँगी और अपनी आत्महत्या। [27]

(मोना गुलाटी)

अकविता की इस प्रवृत्ति पर विचार करते हुए जगदीश नारायण श्रीवास्तव का मत है "नये कवियों के दर्द में लूटे हुए ऐश्वर्य और नवप्राप्त 'यश के शिखरों' का अभिजात्य दर्द था पर साठोत्तरी काव्य पीढ़ी की बैचेनी में विवशता में और कुछ न कर पाने का दर्द है। इस पीढ़ी को अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी के पाखण्डों से टकराने तथा उनकी स्थापनाओं की निरर्थकता से जूझकर परास्त होने का दर्द है। इसलिए अब उसके लिए आत्मदाह की ही स्थिति शेष बचती है।"[28] वास्तव में यह दर्द परास्त होने से ज्यादा सार्थक विकल्प के अभाव के मानसिक विषाद की निर्मिति है। इसके साथ ही इसमें व्यवस्था की असंगति से घायल होने का घोर दर्द भी छिपा हुआ है। व्यवस्था का विरोध एवं उससे किसी सार्थक एवं प्रासंगिक आधार पर संघर्ष का अभाव अकविता के रचना–संसार का मुख्य अंतर्विरोध है। इन दोनों पक्षों में लगातार द्वंद चलता है, परंतु अंत में पलड़ा विकल्प के अभाव की ओर झुक जाता है। यह अंतर्विरोध उसके रचना जगत् को स्थिर एवं बद्धमूल कर देता है, फलतः वह आदिमबोध एवं अराजकताबोध में पर्यवसित हो जाता है। जगदीश चतुर्वेदी का विचार है "आस्था तो सृजन की जननी है। कहीं टिकने के लिए कोई आधार चाहिए। यार लोग चाहें समझें हों मैं सर्वग्राही निषेध का हामी नहीं हूँ। वह निषेध किसी सापेक्ष और सामाजिक मूल्य में परिवर्तित होने के लिए ही है। अनास्था उन जर्जरित मूल्यों, सिद्धान्तों, राजनीतिक हथकंडों तथा सामूहिक भ्रष्टाचार के प्रति है जो जन सामान्य या लोक रुचि को दूषित करते हैं। यदि समाजशास्त्रीय ढंग से सोचें तो आस्था में लीन न रहकर एक ऐसा संसार निर्माण करने की अदम्य इच्छा अवश्य है जहाँ वर्गभेद रूढ़ियाँ तथा उत्तरदायित्व हीनता न हो। हमारे देश में युवा मानस घोर असंतुष्टी का शिकार है और यही प्रतिबिम्ब साहित्य में भी दृष्टिगत होता है। यह आजादी के बाद का मोहभंग है। किसी उद्देश्य या दिशा की तलाश में सब सतत् प्रयत्नरत् हैं। मैं तमाम उन लोगों के साथ हूँ जो इस राष्ट्र निर्माण के प्रति आस्थावान् हैं और अपनी तमाम रचनाओं के माध्यम से उस लक्ष्य की ओर पहुँचने में प्रयत्नरत् और कृतसंकल्प हैं।"[29]

उपर्युक्त उद्धरण में अकविता के प्रमुख प्रवक्ता जगदीश चतुर्वेदी ने दो बातें बहुत स्पष्ट रूप से स्वीकारी हैं जिनका सीधा सम्बन्ध अकविता के अराजक काव्यलोक से है। पहला है टिकने के लिए आधार का अभाव तथा दूसरा है सर्वग्राही निषेध को सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन की चिंता से जोड़ना। इन दोनों के बीच लगातार अकवि की चेतना हांट करती है और इसी बीच से उसका अराजक काव्य संसार उपजता है। शंभूनाथ ने इस पर विचार करते हुए लिखा है "साठोत्तरी निषेधवादी कविता गुस्से की सकारात्मक दिशा के अभाव में व्यवस्था के प्रति सही विद्रोह की कविता नहीं

है, पर वह व्यवस्था के पक्ष में लिखी गयी कविता भी नहीं है। उसका सारा बल मूल्यहीनता के मूल्य पर है, क्षणवाद, विश्वमानववाद, आदिमबोध (प्रिमिटिज्म तथा अस्तित्ववाद पर है। समाज, इतिहास और संगठन उसके लिए यातना शिविर हैं। इस कल्ट के राजकमल चौधरी जैसे कवियों ने व्यवस्था से घृणा व्यक्त की। घृणा का साहित्य लिखा। मगर मूल्य विभ्रांति के कारण वे हर चीज से और विचारधारा से घृणा करने लगे। उनकी ऐसी घृणा उन्हें अराजकतावादी निषेध की ओर ले गयी, जो अनुभूति तथा विवेक के बीच तलाक का चरम रूप है।''[30]

मूल विभ्रांति व्यवस्था की मूल्यहीनता से उपजी थी, विचाररधारा से घृणा प्रचलित विचारों द्वारा छले जाने का परिणाम थी। अनुभूति तथा विवेक के बीच की फांक का उदय अपने अस्तित्व के प्रति गहरी शंका तथा निराशा का परिणाम था। विकल्प के अभाव ने उसे और भटकाव एवं व्यथा में डाल दिया। इन सबके सम्मिलित प्रभाव के फलस्वरूप अकवि ने अपना लक्ष्य चुन लिया विकल्प की चिंता किए बिना, जो है उसका ध्वंस। विश्वम्भरनाथ उपाध्याय का मन्तव्य विचारणीय है ''किसी अकविताओं में विकल्प की ओर संकेत नहीं मिलते। उनमें जो है उसमें निषेध की प्रक्रिया ही है, और इसमें शक नहीं कि यह प्रक्रिया काफी सशक्त है। अकवि ने अपना काम चुन लिया है। वह केवल अस्वीकृति की मनोगति में रहता है और किसी भी प्रकार के धनात्मक रुख का विकास नहीं करना चाहता। वह इस काम के लिए समाज चिंतकों और अन्य इसी प्रकार के लोगों को अधिक उपयुक्त मानता है। उसका काम चीजों को तोड़ना और उसके खिलाफ नफरत फैलाना है। स्थापित व्यवस्थाओं की खाट खड़ी करना ही अकविता का लक्ष्य है। अकवि विद्रोही है क्रांतिकारी नहीं।''[31]

(ख) लोकतन्त्र–विरोध : स्वतंत्रता के बाद देश में संसदीय लोकतन्त्र की पद्धति अपनायी गयी। इसके जरिए प्रशासन को सीधे–सीधे जनता के प्रति जवाबदेह बनाया गया। परंतु आजादी के कुछ सालों के बाद ही इसकी कमजोरियाँ खुलकर सामने आने लगीं। प्रशासन में व्यापक जवाबदेही एवं पारदर्शिता के अभाव ने इन कमजोरियों को बढ़ाने का ही काम किया। राजनीतिक लोकतन्त्र अपने साथ–साथ एक प्रकार के सामाजिक लोकतन्त्र की भी मांग करता है, जिसका भारतीय समाज में परंपरागत रूप से अभाव रहा है। भारतीय लोकतन्त्र के इस आधारभूत अन्तर्विरोध पर विचार करते हुए सुरिन्दर पी. खोसला ने लिखा है ''राजनीतिक लोकतन्त्र की अवधारणा से तात्पर्य एक ऐसी व्यवस्था से है जिसमें शक्ति (सत्ता) उन लोगों के प्रति जवाबदेह होती है जो इसके कार्यों से प्रभावित होते हैं। परंतु सामाजिक लोकतन्त्र के अभाव में राजनीतिक लोकतन्त्र

का कोई अर्थ नहीं है, विशेषतया वहाँ जहाँ समाज जाति विभाजित हो तथा जहाँ पर ऊँचे–नीचे तथा धनी एवं गरीब के बीच स्पष्ट रूप से अलगाव हो। सामाजिक लोकतंत्र समाज के सभी वर्गों को उनकी जाति रंग, नस्ल, लिंग एंव धर्म से इतर समान अवसर प्रदान करता है। यह एक सच्चे लोकतन्त्र के लिए प्राथमिक आवश्यकता है।''[32]

भारतीय समाज में जाति एवं धर्म के आधार पर स्पष्ट रूप से विभाजन रहा है। धन का विकेन्द्रीकरण न होने के कारण एक विशाल संख्या में गरीबों का अस्तित्व भी सदैव रहा है। इनके लिए स्वयं को जीवित रख पाना ही सबसे बड़ा संघर्ष का मुद्दा रहा है। गरीबों की इस विशाल संख्या के लिए अधिकार एवं कर्तव्य की अवधारणा रोटी से शुरू होकर कपड़े तक सीमित हो जाती है, मकान के स्वप्नों की कौन कहे। स्वतंत्रता के बाद भी भारतीय समाज का मूल आर्थिक ढाँचा नहीं बदला अपितु वह सामंतवाद एवं पूँजीवाद के सुविधाजनक गठजोड़ पर ही चलता रहा। न तो जमीन का व्यापक पुनर्वितरण हुआ न पूंजी का विकेन्द्रीकरण। इसका परिणाम यह हुआ कि संवैधानिक प्रावधानों में घोषित मौलिक अधिकार तथा आर्थिक समानता के स्वप्न केन्द्र एवं राज्य की राजधानियों के बीच ही कहीं गुम हो गये। आर्थिक समानता की अवधारणा दम तोड़ गयी। सामाजिक एवं राजनैतिक अधिकारों के विकास के लिए चलाये गए पंचायती राज एवं सामुदायिक विकास के फार्मूले भी असफल हो गए। शिक्षा के स्तर में कोई उल्लेखनीय सुधार न होने के कारण इस प्रशासकीय ढांचे (अर्ध सामंती–अर्ध पूंजीवादी) को मजबूती ही मिली। इन कारणों के फलस्वरूप लोकतान्त्रिक प्रक्रिया भारतीय समाज की जड़ों तक नहीं पहुँच सकी अपितु अभिजात्य के हितों के अनुरुप ढल गयी। लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा का मिथक टूट गया। मौलिक अधिकार सिर्फ एक संवैधानिक अवधारणा बनकर रह गए तथा नीति निर्देशक तत्वों ने राज्यों को सिर्फ कागजी निर्देश दिए जिनको धीरे से मेज की दराज में डाल दिया गया।

लोकतन्त्र के वास्तविक उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए राजनीतिक सुधारों के साथ–साथ ऐसे व्यापक समाज सुधार एवं आर्थिक सुधार कार्यक्रमों की आवश्यकता थी जिनके जरिए इस पारंपरिक सामंती–पूंजीवादी ढांचे को तोड़ा जा सके। इसके लिए आवश्यकता थी जमीन के पुनर्वितरण एवं पूंजी के विकेन्द्रीकरण की, परन्तु यह कार्य सिर्फ योजनाओं तक ही रह गये इनका जमीनी स्तर पर क्रियान्वयन नहीं हो सका। इस ढांचे का लाभ उठाकर समाज के अभिजात्य वर्ग ने लोकतंत्र को सिर्फ बुर्जुआ हितों की पूर्ति के सुविधाजनक मॉडल में ढाल लिया। लोकतन्त्र जन सामान्य का तन्त्र न होकर अभिजात्य का तन्त्र हो गया। जनहितों के कार्य विलीन हो गये, लोकतंत्र अपने लोक (जनता) से दूर चला गया। जनता सिर्फ वोट डालने की मशीन रह गयी जो

पाँच वर्षों में एक बार झाड़–पोंछकर चालू की जाती थी। उसके जंग लगे कलपुर्जों को ठीक करने के लिए उसमें घोषणाओं की तेल वार्निश लगा दी जाती थी। चुनाव के बाद फिर उसे उसके हाल पर छोड़ दिया जाता था। उसके अधिकार सिर्फ संवैधानिक प्रावधानों तक ही सीमित थे, हाँ मतदान का कर्तव्य उसे नियमित रूप से पूरा करने का मौका मिलने की गारंटी थी।

इस प्रकार के निराशाजनक परिवेश के बावजूद जनता सिर्फ इस गलतफहमी में कि यह उसका तंत्र है, वही उसे चला रही है और इस आशा के साथ कि कभी तो उसके दिन फिरेंगे इस बुर्जआ लोकतंत्र में पिसती रही। जी तोड़ मेहनत करती रहे खेतों में, कारखानों में, उद्योगों में, व्यवसायों में ताकि देश आगे बढ़े तो वह भी बढ़ेगी। परंतु सारा मुनाफा सारा फायदा अभिजात्य डकारता रहा और उसे कर्तव्य की ईमानदारी और कार्य की जवाबदेही तथा पारदर्शिता के लोकतांत्रिक फार्मूले समझाता रहा। अकविता ने दुर्व्यव्यस्था पर हमला किया –

जनता क्या है?
एक शब्द.....सिर्फ एक शब्द है
कुहरा कीचड़ और काँच से
बना हुआ.....
एक भेड़ है
जो दूसरों की ठण्ड के लिए
अपनी पीठ पर
ऊन की फसल ढो रही है। [33]

(धूमिल)

अकविता ने बुर्जुआ–सभ्यता के उस स्वरुप को उभारा जिसमें जनता के हितों की पूर्ति के नाम पर जनता के साथ ही अन्याय हो रहा था। उसने पलटकर प्रश्न किया कि क्यों दूसरों (अभिजात्य) की सुविधा को पूरा करने के लिए जनसामान्य कष्ट उठाए जब उसके हितों के लिए इस व्यवस्था में कोई जगह नहीं। उसने चुपचाप देखने–सुनने या देख कर भी अनदेखा करने की मध्यवर्गीय कमजोरी की तरफ इशारा किया और व्यवस्था की दुर्दशा के लिए उसे भी दोषी माना। उसने मध्यवर्गीय छद्म भद्र मानसिकता की कमजोरियों को व्यवस्था की अमानवीयता से जोड़ा –

शहर सोता है चुपचाप
कुछ नहीं होता है
सुबह अखबार की सुर्खियों से पता चलता है
कल रात एक बड़ी मीटिंग हुई थी
और सरकार बदल गयी है। [34]

(जगदीश चतुर्वेदी)

अकवि एक तरफ जहाँ यह दिखाता है कि सरकार बदलने या न बदलने में व्यवहारिक रूप से जनता की कोई भूमिका नहीं रह गयी है, क्योंकि वह सीधे–सीधे इस प्रक्रिया में भागीदार नहीं है, तो दूसरी तरफ इस आयरनी द्वारा लोकतांत्रिक प्रक्रिया की विडम्बनाओं एवं दुर्गुणों की तरफ जनता का ध्यान खींचता है –

न कोई प्रजा है
न कोई तन्त्र है
यह आदमी के खिलाफ
आदमी का खुला–सा
षडयंत्र है। [35]

(धूमिल)

इस षड़यंत्र को लक्ष्य करते हुए राजकमल चौधरी ने कहा था "सबसे बड़ी अश्लीलता है जनतंत्र।"[36] क्योंकि लोक (जनता) के तंत्र के नाम पर जनता को ही छला जा रहा है। इस व्यवस्था को चलाने वाली सर्वोच्च संस्था संसद भी बुर्जआ हितों के अनुरूप ढल चुकी है। उसमें बैठे लोग संदेहास्पद एवं समस्यापूर्ण हैं। वहाँ संविधान के नाम पर घोर असंवैधानिक कृत्य होते हैं –

अपने यहां संसद
तेली की वह घानी है
जिसमें आधा तेल है
और आधा पानी है। [37]

(धूमिल)

संसद में संवैधानिक धाराओं का उपयोग बुर्जुआ हितों को साधने के लिए किया जाता है। अकवि के लिए देश एक टूटा हुआ इन्द्रधनुष है। संविधान की धाराएँ सिर्फ दिखावा है जिनका जनसमस्याओं को दूर करने में कोई खास योगदान नहीं है। उनको लागू करने वाला तन्त्र इनता भ्रष्ट एंव गैर जवाबदेह है कि जो थोड़ा–बहुत अच्छा कार्य हो सकता है वह उसकी संभावना को भी समाप्त कर देता है। इसलिए कवि को लगता है कि संविधान की मौत हो चुकी है –

नक्शे के रंगों में मेरा देश
एक ठहरा हुआ – टूटा हुआ इन्द्रधनुष
मूल अधिकार : एक विशेषता
यही कोई दसवां ग्यारहवां साल

और ढेर सी पतेलियां
भाग्य भाग दरारदार
होना था जिन्हें स्कूली हथेलियाँ
तीन सौ पचानवे धाराएँ
टूटी हुई प्लेटें
संविधान की मौत पर खनखनाती हैं। [38]

(लीलाधर जगूड़ी)

संविधान के जरिए शासन–व्यवस्था चलाने वाला तंत्र भ्रष्टाचार में आकंठ डूबा हुआ है। व्यवस्था को प्रभावित करने वाली जगहों पर जाने के लिए अब योग्यता की नहीं सिफारिश की जरूरत है। जाहिर है इस प्रक्रिया से जो व्यक्ति नीति–निर्धारण संस्थाओं में पहुँचेंगे वे जवाबदेह एवं पारदर्शी तो नहीं हो होंगे। नतीजन वे गलत कार्य करते हैं। कार्यपालिका एवं विधायिका दोनों में शामिल लोग व्यवस्था का लाभ उठाकर अधिक से अधिक व्यक्तिगत लाभ उठाना चाहते हैं। यह बीमारी ऊपर से शुरू होकर समाज के निचले तबके तक पहुँच गयी है क्योंकि बिना इसके व्यवस्था में सुरक्षित रहना और बच पाना कठिन ही नहीं लगभग नामुमकिन है –

नौकरी के लिए पढ़कर
सिफारिश से कुर्सी पर चढ़कर। इस दरमियान मैंने जाना
कि जनतंत्र में बिल्कुल नया जमाना है
और नागरिकता पर सबसे बड़ा रंदा थाना है
बीड़ी और बीबी के बीच। माचिस की तरह बजकर
कुटुम्बदारी निबाहते हुए। चारों ओर जो शोर है
इसका जो भी मतलब हो। इस व्यवस्था में
हर आदमी कहीं न कहीं चोर है। [39]

(लीलाधर जगूड़ी)

लोकतांत्रिक व्यवस्था की यह असफलता अकविता के रचना संसार को जहाँ एक ओर भयंकर आक्रोश से भरती है तो दूसरी तरफ किसी विकल्प का अभाव तथा परिवेश का दबाब इन कवियों को बदहवास कर देता है। उन्हें समझ नहीं आता कि वह कैसे और किस स्तर पर इससे सकारात्मक रूप से टकराए, किस प्रकार इससे मानवीय मूल्यों को बचाकर निकाल ले जाय। यह उधेड़बुन उसे उस अराजक काव्यसंसार की तरफ तेजी से धकेलती है जहाँ वह स्वतंत्रता और समानता जैसे चरम लोकतांत्रिक नारों को नाटकीयता की हद तक हास्यास्पद बना देता है। उनको स्तरहीन

सिद्ध करने के लिए चीजों के जक्स्टापोजीशन के जरिए लोकतांत्रिक–व्यवस्था के अंतर्विरोध को असंस्कृतीकरण की बुनियादी शर्त के रूप में प्रस्तुत करता है। उसके विचार में इस प्रचलित अपसंस्कृति का मुख्य स्रोत यह समस्याग्रस्त लोकतन्त्र है। इस कारण वह इस व्यवस्था की खुल कर धज्जियाँ उड़ता है –

लुकमान अली के लिए स्वतंत्रता उसके कद से तीन इंच बड़ी है
वह बनियान की जगह तिरंगा पहनकर कलाबाजियाँ खाता है
वह चाहता है कि पांचवे आम चुनाव में बौनों का प्रतिनिधित्व करे
उन्हें टाफियाँ बांटे।
जाति और भाषा की कसमें खिलाए
अपने पाजामे–फाड़कर सबके चूतड़ों पर पैबंद लगाए। वह गधे की
सवारी करेगा
अपने गुप्तचरों के साथी सारी
प्रजा पर हमला बोल देगा
वह जानता है कि चुनाव
लोगों की राय का प्रतीक नहीं, धन और धमकी का अंगारा है
जिसे लोग अपने कपड़ों में छिपाए पानी के लिए दौड़ते रहते हैं।[40]

(सौमित्र मोहन)

मुरली मनोहर प्रसाद सिंह ने इस पर विचार करते हुए लिखा है "इतिहास के रूख और समय के सत्य से यह कविता उत्पन्न नहीं हुई है, बल्कि मध्यवर्गीय युवा कवि की बदहवासी से उत्पन्न हुई है। निम्नवर्ग की तरह मध्यवर्ग की यातना का कारण यह पूंजीवाद है, यह झूठा लोकतंत्र है। ऐसा लोकतंत्र जो पूँजीवाद को विकास का अबाधित अवसर प्रदान करने वाली एक राजनीतिक आड़, एक खोल बन गया है। उससे लड़ने को तैयार होना या तैयार करना कवि का धंधा है या नहीं – यह अलग से बहस का विषय है। पर समझ के स्तर पर यह बात साफ हो जानी चाहिए कि मध्यवर्ग की सारी यातनाओं का मूल कहाँ है।"[41]

इतिहास के रुख और समय के सत्य से अकविता उत्पन्न हुई है या नहीं यह अलग से बहस का विषय है, परंतु यह सत्य है कि इसकी यातना का एक कारण लोकतांत्रिक व्यवस्था की विफलता जरूर है। यह यातना अकवि को उसके अंतर्विरोधों की तरफ लगातार ठेलती है। अंगारा छिपा है कपड़ों में और ढूंढ रहे हैं पानी यह विरोधाभास लोकतांत्रिक व्यवस्था की कथनी और करनी के बीच के अंतर को स्पष्ट करता है। इसकी अपारदर्शिता और गैरजवाबदेही पर पड़े परदे को उठाता है। अतः यह

अकारण नहीं कि उसे यह एक मदारी का खेल दिखायी देता है जहाँ हाथ की सफाई ही मजमे का मूल स्रोत होता है –

दरअसल अपने यहाँ जनतंत्र
एक ऐसा तमाशा है
जिसकी जान मदारी की भाषा है। [42]

(धूमिल)

इस लोकतांत्रिक व्यवस्था ने समस्याओं का समाधान करने की जगह उनको और बढ़ाने का ही काम किया है। हर आदमी आज असहाय एवं निराश है, उसका अस्तित्व असुरक्षित है तथा मानसिक अंतर्जगत् असंतुलन के कगार पर खड़ा है। चारों तरफ एक अनेदखा परंतु महसूस किया जा सकने वाला आक्रोश भर रहा है। पेट और प्रजातंत्र के बीच मनुष्य पिस रहा है, हर चुनाव एक नया संकट लेकर आता है जबकि वायदे समाधान के किए जाते हैं। इस भयंकर उद्विग्नता में अकवि लगातार उधेड़बुन में है कि क्या किया जाय। स्थितियाँ काफी विकट हैं –

यहाँ से वहाँ तक चुनाव के बाद का संकट लेकर
पेट और प्रजातंत्र के बीच
आदमी दरार की तरह खड़ा है
और बवण्डर हर दरवाजे पर। पर्दे की तरह पड़ा है। [43]

(लीलाधर जगूड़ी)

अकवि का विश्वास है कि 'जनतंत्र' जनता को धोखे में रखने के लिए उपयोग किया जाने वाला एक शालीन शब्द है। इसकी हत्या स्वयं सत्ता के निर्णायक पदों पर बैठे लोग कर रहे हैं जिनके लिए इसका अर्थ अपने हितों को पूर्ति से ज्यादा कुछ नहीं है। इस व्यवस्था में सामान्य जन के हित के लिए जो भी सम्भावनाएँ हैं उनको इन अभिजात्य वर्गीय लोगों ने समाप्त कर दिया है या उसकी उपेक्षा करके उसे अपने हितों के अनुसार ढाल लिया है –

उन्होंने जनता और जरायमपेशा
औरतों की बीच की
सरल रेखा को काटकर
स्वस्तिक चिन्ह बना लिया है
और हवा में एक चमकदार गोल शब्द
फेंक दिया है – 'जनतंत्र'
जिसकी सैकड़ों बार हत्या होती है

और हर बार
वह भेड़ियों की जुबान पर जिंदा है।[44]

(धूमिल)

लोकतान्त्रिक व्यवस्था का एक मुख्य अन्तर्विरोध है आर्थिक असमानता की अवधारणा को ठीक ढंग से सम्बोधित न कर पाना। वह राजनीतिक सुधारों एवं जनता के द्वारा सत्ता–स्थापन की प्रक्रिया द्वारा समस्त समस्याओं का समाधान खोजती है। उसे लगता है कि उसने जनता को सरकार बनाने का अधिकार दे दिया है अब वह खुद ऐसी सरकार चुनेगी जो उसकी समस्याओं का ठीक ढंग से समाधान कर सके। परन्तु आर्थिक असंतुलन की अवधारणा इसके प्राथमिक स्वरूप चुनावों को ही समस्याग्रस्त कर देती है। आर्थिक रूप से मजबूत वर्ग चुनावों में आसानी से जीत जाते हैं क्योंकि चुनाव जीतने के लिए जिन संसाधनों की जरूरत होती है उनसे वे लैस होते हैं। गरीब तो अपने वोटों का भी ठीक ढंग से उपयोग नहीं कर पाता चुनाव जीतने की कौन कहे। इस प्रकार बनी सरकार जब सत्ता में आती है तो नीतियों का निर्धारण उसी प्रकार करती है जिससे अभिजात्य की आर्थिक समृद्धि बढ़े। इस प्रक्रिया में वह आर्थिक असमानता की समस्या को सम्बोधित करने की बजाय बुर्जुआ हितों को साधने के लिए संयुक्त राष्ट्रीय विकास (आर्थिक राष्ट्रवाद) के नारे को उछालती है। इस प्रक्रिया की सहायता से वह आर्थिक असमानता एवं व्यक्तिगत अस्मिता के प्रश्नों को दबाती है तथा पारंपरिक अभिजात्य की पूंजीवादी अवधारणा को मजबूत करती है। जनता को इस खेल में फँसाने के लिए वह सामूहिक जवाबदेही तथा जनता के प्रति उत्तरदायित्व के नारों का इस्तेमाल करती है।

लोकतान्त्रिक पद्धति सुधार कार्यक्रमों के जरिए अपने पास एक ऐसा सेफ्टी वाल्व रखती है जिसके जरिए वह छोटे–छोटे जन–सुधारों के जरिए व्यापक जनअसंतोष को दबाने का काम करती है। इस प्रक्रिया में घिरा आम–आदमी उससे अपने आप को न पूर्णतः अलग कर पाता है न जोड़ पाता है। अलग होने के बाद उसके पास कोई विकल्प नहीं दीखता तथा उसमें प्रवेश करने के आधारों (मूलतः अर्थ) का उसके पास अभाव होता है। ऐसे में यह लोकतन्त्र मूलतः 'बुर्जुआ लोकतन्त्र' हो जाता है जिसमें जनता का कार्य सिर्फ मतदान करने के पावन कर्म तक सीमित रहता है। यह तीसरे देशों में प्रचलित लोकतांत्रिक पद्धति का मुख्य अन्तविर्रोध है।

लोकतन्त्र के इस अन्तर्विरोध पर अकवि अंगुली रखता है। उसे लगता है जैसे यह पद्धति आदमी को लगातार तोड़ती जा रही है। इसके जरिए जनसमस्याओं के निर्णायक समाधान की तो उम्मीद नहीं है परन्तु छोटे–छोटे सुधारों के जरिए वह मनुष्य

को नपुंसक बनाती जा रही है, जिसके कारण वह किसी निर्णायक संघर्ष की क्षमता से रहित हो जाएगा। अकविता बुर्जुआ लोकतन्त्र के इस समस्याग्रस्त जोड़ पर अंगुली रखती है तथा मनुष्य को उससे बाहर निकालने की वकालत करता है –

आदमी को तोड़ती नहीं है लोकतांत्रिक पद्धतियाँ केवल पेट के बल
उसे झुका देती हैं धीरे–धीरे अपाहिज
धीरे–धीरे नपुंसक बना देने के लिए उसे शिष्ट राजभक्त देशप्रेमी नागरिक
बना लेती हैं
आदमी को इस लोकतंत्री संसार से अलग हो जाना चाहिए। [45]

(राजकमल चौधरी)

सम्पूर्ण परिवेश की अराजकता एवं व्यवस्था की विद्रूपता के लिए भी वह सर्वाधिक जिम्मेदार इस लोकतांत्रिक पद्धति को ही मानता है। उसके अनुसार समस्त व्यक्तिगत एवं सामाजिक समस्याओं की जड़ यह लोकन्त्र ही है–

1967 से लेकर 1987 तक बीस वर्ष के बाद
दूसरा बीस वर्ष हम बिजली के हर खंभे पर सीढ़ियाँ लगाते चलें यह जाँच
पड़ताल करने के लिए किस संक्रामक रोग से
सारी रोशनी सारा अनाज सारी किताबें सारे घर द्वार डूब गए हैं
बंद ताबूत के अंदर
जिसे हम लोग समय कहते थे और जो एक टूटी हुई पुरानी घड़ी की तरह
रुकी हुई थी
हमारे किताब घर की दीवार पर
उसका नाम क्यों नहीं रख दें जनतंत्र क्यों नहीं रख दें
उसे दीवार पर अंडरवियर और खाली गुलदस्तों के आसपास क्यों नहीं
– – – – – – – – – – – – – – – – – क्यों नही। [46]

(राजकमल चौधरी)

अकवि इस समस्याग्रस्त परिवेश से स्वयं को और समाज को बाहर निकालना चाहता है। उसके लिए इसका विकल्प तलाशना सबसे प्रमुख कार्य है –

जहरीले मवाद और रक्त मिश्रित पेशाब की
गंध से अर्थात् लोकतंत्र से
और राशनकार्डों से
मैं अपने बच्चों और अपनी विधवाओं को
कैसी मुक्ति दे जाऊँ अपनी मौत से पहले

मेरे लिए
अस्तित्व की सबसे बड़ी समस्या यही है जिसका
करना ही होगा मुझको समाधान।[47]

(राजकमल चौधरी)

राजकमल भी लगातार इस बात से परेशान हैं कि इसका विकल्प तो खोजना ही होगा। परन्तु न तो वे ही इसका विकल्प खोज पाते हैं, न सम्पूर्ण अकविता। लोकतंत्र का विरोध फासिस्ट एवं अराजकतावादी भी करते हैं। फासिस्ट इसके विकल्प में एकाधिकारवादी तानाशाही को बेहतर मानते हैं। अराजकतावादियों का मानना है कि व्यवस्था का होना ही सबसे बड़ी समस्या है। अतः वह इस प्रकार के परिवेश की कामना करते हैं जिसमें कोई व्यवस्था नहीं होगी, सभी स्वयं के बनाए नियम–कानूनों के हिसाब से जीवन जीने के लिए स्वतंत्र होंगे। यह व्यवस्था दुर्व्यवस्था की हद तक जाती है। एक तीसरा पक्ष साम्यवादियों का है जो लोकतंत्र को एक सकारात्मक विकास मानते हैं। उनकी धारणा है कि लोकतंत्र में सामंतवाद के ढांचे को ध्वस्त करने की क्षमता होती है। यह पूंजीवाद का विकसित रूप है जिसमें सर्वप्रथम समाज के बहुसंख्यक वर्ग की अस्मिता की पहचान एवं अधिकारों का निर्धारण होता है। साम्यवादी इसको सर्वहारा क्रांति का एक आवश्यक चरण मानते हैं। अकविता का लोकतंत्र विरोध पूर्णरूपेण किसी भी धारणा के अंतर्गत् नहीं आता। यद्यपि अराजकतावादियों की तरह वे व्यवस्था को किसी भी कीमत पर खत्म करना चाहते हैं, परन्तु वे व्यवस्थाहीनता की स्थायी रूप से हिमायत करते नहीं दीखते। लोकतन्त्र का विकल्प कहीं अकविता में नहीं मिलता सिर्फ और सिर्फ उसका विरोध मिलता है। यह अकविता के वैचारिक चिंतन का एक महत्वपूर्ण अंतर्विरोध है जो इसके लोकतंत्र विरोध की गंभीरता को कुछ हद तक कम कर देता है।

(ग) यौन–विद्रोह : अकविता का रचना–संसार यौन सम्बन्धों, यौन प्रक्रियाओं एवं यौन प्रसंगों के उन्मुक्त वर्णनों से भरा पड़ा है। उसकी इस विशेषता ने जहाँ उसे एक तरफ लोकप्रिय बनाया तो दूसरी तरफ विवादास्पद भी। उसकी उन्मुक्त यौन–भाषा ने उसके आस्वाद एवं मूल्यांकन की समस्याएँ भी खड़ी कीं। आलोचकों के एक वर्ग द्वारा जहाँ उसे कुंठित, रोगग्रस्त, मूल्यहीन एवं अमर्यादित जैसे विशेषणों से नवाज कर खारिज किया गया तो दूसरी तरफ शुद्धता एवं नैतिकता के चरम हिमायती साहित्य वर्ग द्वारा उसे अस्पृश्य बना दिया गया। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया द्वारा अकविता को साहित्य की मुख्य धारा से प्रयासपूर्वक बहिष्कृत करने की कोशिश की गयी तथा इस सम्पूर्ण साहित्य को 'बाजारू' एवं 'पोर्नोग्राफिक मेटेरियल' जैसे नामों से सम्बोधित किया गया। यह सम्पूर्ण

अकविता को उसके व्यापक परिप्रेक्ष्य एवं स्वरूप में न देखकर उसको सीमित एवं संदर्भहीन रूप में देखना है।

व्यवस्था की विसंगतियों के कारण साठोत्तरी परिवेश ने जहाँ एक तरफ आजादी के बाद देखे गए स्वप्नों का तेजी से तिरोहित होना देखा वहीं दूसरी तरफ पारंपरिक सम्बन्धों एवं मूल्यों में टूटन एवं बिखराव बहुत तेजी के साथ घटित हुआ। शहरीकरण की बढ़ती प्रक्रिया ने युवाओं को गाँवों से शहरों की तरफ सुखद एवं सुरक्षित भविष्य के सपनों के साथ खींचा। इस पलायन के परिणामस्वरूप पुराने पारिवारिक एवं सामाजिक सम्बन्धों के स्थायी आधार खण्डित हुए। जितनी तेजी से उनका खण्डन हुआ उतनी तेजी से और उस प्रकार के स्थायी एवं मजबूत सम्बन्धों का शहर के गतिशील वातावरण में निर्माण सम्भव न था। परिणामस्वरूप गाँव से शहर आया युवा भीड़ में अपने को अजनबी महसूस करने लगा।

एलिएनेशन की इस प्रक्रिया के बीच उसने शहरी जीवन की संपन्नता एवं गतिशीलता का भी दिग्दर्शन किया। देखा धन का बेतरतीब बहाव, सुविधाओं का केन्द्रीकरण और फलस्वरूप किया जा रहा अबाध भोग। वैसे तो एक सम्पन्न भविष्य का ख्वाब लिए वह भी आया था परन्तु यहाँ आकर उसे ऐसे लगा जैसे ये सब उसके ख्वाबों से भी अधिक हैं। बहुमंजिली इमारतों में फैले डेकोरेटेड फ्लैट्स, चमचमाती गाड़ियाँ, रंगीन एवं महंगे कपड़े, कॉफी हाउस की बहसें, बार एवं डिस्कोथेक्स और इन सबके बीच बहता पैसा ये सारी चीजें ही उसे विचलित करने के लिए काफी थीं। इसी से जुड़ गया उन्मुक्त एवं अबाध शारीरिक भोग का आधुनिक शहरी वातावरण जहाँ पारंपरिक सम्बन्धों से बाहर सेक्स एक आम बात थी।

अकविता के लगभग सभी कवि इसी नवविकसित मध्यवर्गीय युवक समाज से ताल्लुक रखते थे जिसके सपनों एवं यथार्थ के बीच व्यवस्था में गहरी फांक थी। एक तरफ व्यवस्था में बहुत कुछ हासिल न कर पाने की कुंठा, व्यवस्था को न बदल पाने का रोष तो दूसरी तरफ इससे निजात पाने के लिए किसी मजबूत सम्बन्ध आधार का अभाव। इसके परिणामस्वरूप ये कवि अपने मानसिक अंतर्जगत् में कैद होकर रह गए। यह नव–विकसित पूंजीवादी सभ्यता में व्यक्ति के स्वत्व के खोने का परिणाम था जिसने उसे चरम एकाकी मानसिक विषाद में डाल दिया। एलिएनेशन अथवा निर्वासन के परिणामों का वर्णन करते हुए मार्क्स ने लिखा है "निर्वासन की स्थिति में जब तमाम सामाजिक और मानवीय सम्बन्ध व्यर्थ प्रतीत होने लगते हैं तो जो पाशव है वही मानवीय हो जाता है और मानवीय पाशव। इसलिए संभोग की शारीरिक क्रिया जैसा पाशव कर्म ऐसा कर्म बच रहता है, जिसमें निर्वासित व्यक्ति अपने–आपको मानव

समझता है, अगर्चे स्तर तक गिरकर पशुता तक पहुँच जाता है।''[48] अकविता में पायी जाने वाली यौन उन्मुक्तता का एक पहलू इसी आत्मनिर्वासन का परिणाम है जिसके फलस्वरूप अकवि बुद्धि एवं विवेक को नकार कर, संवेदनाओं एंव भावनाओं को परे हटाकर सौंदर्य के कायिक आकर्षण एवं सेक्स के शारीरिक आनंद को ज्यादा महत्वपूर्ण मानने लगता है –

किसी के स्तन मुझे बौद्धिकता से कहीं श्रेष्ठ लगते हैं
किसी का सेण्ट किसी की वेशभूषा
मैं एक वृहत् संसार में अपने को भुला देना चाहता हूँ
विश्वास के एक कमरे में कैद रहना
मुझे निकृष्ट लगता है
मैं प्रत्येक छिद्र के साथ संभोग करना चाहता हूँ। [49]

(जगदीश चतुर्वेदी)

सामाजिक सम्बन्धों से कटा हुआ तथा व्यवस्था में अपने को अनफिट महसूस कर रहा व्यक्ति एक प्रकार के मानसिक परपीड़न की अवस्था में पहुँचता है जहाँ पर वह अबाध एवं उन्मुक्त सेक्स के जरिए खोये हुए सम्बन्धों की यूटोपियन स्तर पर प्राप्ति की तुष्टि करता है। उसे अपना अकेलापन तोड़ने के लिए स्त्री शरीर के साथ सहवास ही उपयुक्त नजर आता है –

हर बार स्त्री के शारीरिक साहचर्य के बाद
मेरा अकेलापन टूट जाता है। [50]

(जगदीश चतुर्वेदी)

शंभूनाथ ने इस पर विचार व्यक्त किया है कि ''सामान्यतः सामाजिक व्यवस्था की व्यक्ति–निरपेक्षता, दूसरे शब्दों में अमानवीयता आदमी को इतना आत्मकेन्द्रित बना देती है कि औरत के बारे में भी वह रुग्ण ढंग से सोचता है। उसे जीवन के सारे व्यापार सेक्स प्रतीकों के रूप में दिखायी पड़ते हैं।'' [51] इसके परिणामस्वरूप वह स्वस्थ मानवीय सम्बन्धों से हटकर असंतुलित सेक्सुअल आकर्षण में कैद हो जाता है, ऐसे मे कैशोर्य भावुकता भी यौन तुष्टि की मानसिक–प्रक्रिया में परिणत हो जाती है –

समवयस्का की छाती का उभार और मेरी
नयी–नयी मूंछों का उगना
–मीता के साथ मेरे खेलने का अर्थ बदल रहा है
वह जानती है या नहीं मैं उसे नंगा देखना चाहता हूँ। [52]

डॉ. इन्द्रनाथ मदान ने इस पर विचार करते हुए लिखा है "इसमें सेक्स अनुभूति झिझक और झेप से अलग हो गयी, यह आदिम अनगढ़ता की ओर जाने लगी, कामुक विह्वलता, व्यंग्य और विडम्बना में बदल गयी, व्यक्ति की चेतना का रंग काला हो गया, गोपन भाव का अन्त हो गया, व्यवस्था से विश्वास उठ गया, विसंगति का जाल बुना जाने लगा।"[53]

अकविता का यह यौन–संसार अमरीका की बीट पीढ़ी और खासकर एलेन गिंसबर्ग की कविताओं से प्रभावित था। परन्तु दोनों में एक महत्वपूर्ण अंतर यह है कि जहाँ बीट पीढ़ी की कविताएँ पूंजीवादी संस्कृति के चरम भौतिक संसार में व्यक्ति के भीड़ बन जाने, उसकी व्यक्तिगत अस्मिता के लोप तथा फलस्वरूप उत्पन्न सेल्फ (स्वत्व) के विघटन से उपजी थीं। वहीं हिन्दी की अकविता उस भौतिक संसार की चकाचौंध, सुख–सुविधा एवं ग्लैमर में प्रवेश न कर पाने की मध्यवर्गीय हताशा का प्रतिबिम्बन थी। एलिएनेशन का सामान्य तत्व दोनों में था परन्तु एक जहाँ तत्कालीन अमरीकी समाज में व्याप्त अत्यधिक सुविधा–सम्पन्नता की प्रतिक्रिया थी तो दूसरे में तत्कालीन मध्यवर्गीय भारतीय समाज में व्याप्त सुविधाहीनता से उत्पन्न मानसिक कुंठा थी जिसने सिर्फ हिन्दी ही नहीं अपितु अन्य भारतीय भाषाओं में भी अपना स्वरूप दिखाया।

अकविता के इस यौन–संसार के बारे में श्याम परमार ने लिखा है "औरत उसके (अकविता) के लिए सतत् मोह और भावुकता की वस्तु नहीं है। यदि अनुभूति के कैनवस रिक्त नहीं है तो औरत औरत ही है और सम्बन्ध में भड़भड़ाए हुए किशोर या टेडी बाय की तरह नहीं सोचा जा सकता। निश्चिन्हित एवं अभावग्रस्त तृष्णाएँ विसंगति की त्रासदी में अकविता में प्रायः उलूल–जलूल की एक ऐसी स्थिति भी उत्पन्न करती हैं जहाँ कायिक क्षमता केवल मानसिक जिंघासा में संतृप्त होती है। यह अकविता की आंरभिक मानसभूमि है।"[54]

अकविता पर उसकी इस प्रवृत्ति के कारण उस पर स्त्री विरोधी होने के आरोप मढ़े जाते रहे हैं, परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि इसमें आने वाली कवियत्रियों की भाषा भी यौनिकता की उसी शैली में बात करती है –

मैं अपने शरीर को तुम तक भेजती हूँ यूँ ही
रात भर के लिए दिलों का फासला तय हो जाता है। [55]

(मणिका मोहिनी)

सुबह होने से लेकर दिन डूबने तक
मैं इंतजार करती हूँ रात का

जब हम दोनों एक ही कोने में सिमटकर
एक दूसरे को
कुत्तों की तरह चाटेंगे
विवाह के बाद जिंदा रहने के लिए
जानवर बनना बहुत जरूरी है। [56]

(मणिका मोहिनी)

महिला रचनाकारों की कुछ रचनाओं में सेक्स को नारीवाद के संदर्भ में भी देखने की प्रवृत्ति मिलती है। पुरुष वर्चस्व को वे सेक्सुअल–संसार में जाकर चुनौती देती हैं। सेक्स पर खुली चर्चा करके, उसे उन्मुक्त रूप से भोग कर, नकार कर एक प्रकार से ये कवियत्रियाँ पितृसत्तात्मक समाज की नैतिकता के सबसे मजबूत पारंपरिक क्षेत्र पर खुलकर प्रहार करती हैं, वर्जनाओं को तोड़ती हैं –

नर शताब्दी में रहते–रहते मेरे जिस्म पर
फफोले उग आए हैं
घृणा के अतिरेक में दग्ध होने लगे हैं
जंगल और भुतहे एकान्त। [57]

(मोना गुलाटी)

यह एक प्रकार से सम्पूर्ण पुरुष वर्चस्ववादी व्यवस्था के खिलाफ दिया गया आक्रामक बयान है जिसमें उसका पूर्णरूपेण नकार करने की इच्छा व्यक्त की गयी है। स्वयं मोना गुलाटी का कथन है "मुझे अपने परिचितों और परिवेश में कोई रुचि नहीं है। मेरे अहं ने मुझे व्यक्तिवादी समीक्षक बना दिया है और निरपेक्ष एवं निस्संग स्थिति में पटक दिया है। निरासक्त व्यक्ति केवल अपनी खिल्ली उड़ाता है, मृत्यु केवल बौद्धिक यंत्रणा रही है एक रुढ़ि से टूट जाने की या संस्कार से मुक्त होने की। मैं अपने पूर्वजों से कुछ भी प्राप्त नहीं करना चाहती न उनकी जुगुप्साएँ न ही उनके आदर्श और भोड़ी आदतें। सेक्स मेरे लिए वितृष्णा का विषय है, मुझे उन व्यक्तियों के प्रति अपार असंतोष होने लगता है जिन्होंने नारी काव्य की रचना की है, चाहें वह कबीर हों या तुलसी या मैथलीशरण गुप्त या धर्मवीर भारती या जगदीश चतुर्वेदी। .....मेरी इच्छा पुरुष इतिहास का अंत कर देने की है .....नर शताब्दी में रहते–रहते मेरे पूरे जिस्म पर फफोले हो गए हैं।[58]

इस परिस्थिति में यह यौन–विद्रोह स्त्रियों की पराधीनता तथा उनके यौन अस्तित्व के संदर्भ में एक प्रामाणिक एवं सार्थक बयान बन जाता है। यहाँ आकर यौनमुक्ति स्त्री मुक्ति के व्यापक संदर्भ से जुड़ जाती है –

तुमसे मुक्ति पाने के लिए आवश्यक हो गया है कि मैं आकाश में
बना दूँ एक दरार और मान लूँ
कि इस पुंसत्वहीन कायर देश और फूहड़ शताब्दी के लिए औरत का पर्याय
पुंगारती हुई गाय, मिमियाती हुई बकरी और मरी हुई मक्खी के
अतिरिक्त कुछ और
नहीं हो सकता। [59]

(मोना गुलाटी)

इस प्रक्रिया के द्वारा अकविता पारंपरिक भारतीय मानसिकता में रची–बसी भद्र सेक्स नैतिकता की द्विस्तरीय ग्रंथि पर प्रहार करती है जो कमरे में उन्मुक्त भोग तथा बाहर चरम नैतिकता के दावों पर पलती रही है। वह यह दिखाती है कि जिस देश में 'यत्र नार्यस्तू पूज्यंते रमंते तत्र देवता' की कहावत प्रचलित रही है वास्तव में वहाँ स्त्री की दशा कैसी है। वह सामंती–पूँजीवादी संस्कृति के सम्मिलित दबाव के फलस्वरूप कमोडिटी (वस्तु या माल) बन चुकी है। उसके शरीर को बाजार में पूंजी के बल पर आसानी से खरीदा जा सकता है। सेक्स अब भावानात्मक लगाव के चरम क्षणों की उत्तेजना से बाहर निकालकर कैलकुलेटेड व्यवसाय बन चुका है। यहाँ स्त्री शरीर सेक्स का खिलौना बन चुका है। अकविता जहाँ एक ओर भारतीय संस्कृति एवं समाज की इस पतनशीलता को रेखांकित करती है वहीं दूसरी ओर उसकी छद्म नैतिकता को अपने तीव्र यौन विम्बों एवं नग्न भाषा द्वारा काटती है। यह सच है कि इस पूरी प्रक्रिया में स्त्री मुक्ति या यौन मुक्ति की अवधारणा का स्पष्ट स्वरूप उभरकर सामने नहीं आता, परंतु व्यवस्था की सडांध एवं मूल्यहीनता अवश्य उजागर हो जाती है। अकविता के भयावह एवं अस्वस्थ यौन विम्ब पाठक में एक प्रकार की जुगुप्सा भरते हैं जिसके फलस्वरूप उसके मन में प्रचलित व्यवस्था के प्रति एक प्रकार की घृणा का निर्माण होता है।

विश्वम्भरनाथ उपाध्याय के शब्दों में "भारतीय समाज इतना वर्जनाग्रस्त, विधि निषेधों से ओत–प्रोत और आकांक्षी है कि यौनगत विद्रोह भी एक सीमा तक प्रासंगिक लगने लगते हैं। मध्यवर्ग तो अभी इतना रूढ़िवादी और दूहरेपन से ग्रस्त है कि वह एकांतभोग को स्वीकार करता है मगर सामाजिक स्तर पर परंपरा से प्रचलित यौन–प्रतिमानों से वह डरता है। भारतीय मध्यवर्ग की इस चौथी नैतिकता पर जगदीश चतुर्वेदी और उनके हमराही प्रहार करते हैं। यह प्रहार अश्लील, अभद्र, सीमित, एकस्तरीय और दृष्टिहीन बन जाता है क्योंकि अकवि यौन सम्बन्धों को निरपेक्ष मान

लेता है। वह सम्बन्धों के मूल आधारों (आर्थिक ढांचा) का न अन्वेषण करता है न समग्रता में यौन क्रांति देखता है।''[60]

अकविता के इस उन्मुक्त यौन संसार का एक दूसरा स्वरूप भी है और कारण भी। इसमें अकविता में 'स्त्री' एक व्यवस्था के रूप में आती है। यह प्रश्न उठ सकता है कि आखिर स्त्री का ही प्रयोग इस उद्देश्य के लिए क्यों किया जाता है? इसका कारण है कि स्त्री पारंपरिक अभिजात्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं स्थायी नैतिक टैबू रही है। मर्यादा के नाम पर सर्वाधिक बंधन उसी पर लगाए गए हैं। वह एक तरह से व्यवस्था में सभ्यता एवं संस्कृति के मापदण्डों का निर्धारण करने हेतु एक पैमाना रही है। जिस व्यवस्था में स्त्री जितने बंधनों में है परंपरागत ढंग से उस व्यवस्था को उतना ही नैतिक एवं मर्यादित माना जाता रहा है। अकवि चूंकि व्यवस्था की प्रचलित मर्यादा को भंग करना चाहता है इसलिए वह उसके सबसे मजबूत एवं आधारभूत पारंपरिक टैबू 'स्त्री' को इस उद्देश्य के लिए चुनता है। इस प्रक्रिया के दौरान वह यौन–सम्बन्धों, यौन अंगों एवं यौन प्रक्रियाओं के खुले वर्णन द्वारा लगातार उस 'टैबू' पर प्रहार करता है, उसे तोड़ता है। स्त्री शरीर से सम्बन्धित रूपकों का इस्तेमाल कर वह उपर से कास्मेटिक एवं सुरुचि–संपन्न दीखती परन्तु अन्दर से सड़ी–गली एवं खोखली व्यवस्था के अन्दर की बदबूदार एवं कमजोर परतों को सफलता के साथ खोलता है। इस प्रक्रिया के दौरान वह पाठक को जुगुप्सा, हारर एवं घृणा से भर देता है। पाठक के मनोजगत् को संवेदनात्मक व्याघात लगता है, वह तिलमिला उठता है। इस प्रक्रिया द्वारा अकविता व्यवस्था के वास्तविक स्वरूप को उसके सामने सफलता के साथ व्यक्त करती है।

आजादी का वास्तविक अर्थ खो चुका है, उसके बिगड़े हुए स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए कवि यहाँ पर स्त्री शरीर के रूपक का सहारा लेता है ताकि उसकी बात पूर्णतः स्पष्ट हो सके और पाठक गहरी वितृष्णा एवं टीस से भर सके –

आजादी इस दरिद्र परिवार की बीस साला 'बिटिया'
मासिक धर्म में डूबे हुए क्वाँरेपन की आग से
अन्धे अतीत और लंगडे भविष्य की
चिलम भर रही है। [61]

(धूमिल)

इस व्यवस्था में जनता की वास्तविक हालत का बयान करने के लिए कवि यौन बिम्बों का सहारा लेता है क्योंकि वह इस दोगली एवं अनैतिक व्यवस्था के सम्पूर्ण चरित्र को नंगा करके दिखाना चाहता है–

लोकसभा से लेकर संयुक्त राष्ट्रसंघ तक

हमारी कोई उपयोगिता नहीं
विश्योनि में बहुत दिन तक हम
चरित्र की तरह नहीं खुजला सकते। [62]

(लीलाधर जगूड़ी)

लोकतंत्र के वास्तविक स्वरूप को व्यक्त करने के लिए वह 'वेश्या की योनि' के रूपक का इस्तेमाल करता है क्योंकि यह लोकतंत्र भी उसे वैसा ही बाजारु एवं मर्यादाहीन लगता है जिसे सिर्फ पैसे की ताकत पर खरीदा जा सकता है और फिर अबाध ढंग से जैसे चाहें वैसे भोगा जा सकता है –

इक्कीसवीं शताब्दी को
इस बे रौनक गोचर लोकतंत्र में जब जीना है तो
वेश्या की सार्वजनिक योनि से संभव करना है। [63]

(लीलाधर जगूड़ी)

नामवर सिंह ने साठोत्तरी युवा लेखन में पायी जाने वाली इस अश्लीलता के सम्बन्ध में विचार करते हुए लिखा है "सच कहने के लिए अनेक युवा लेखकों ने ऐसी नंगई को जानबूझकर अपनाया है, क्योंकि बड़े–बड़े पहाड़ों को फोड़ने के लिए ऐसे शब्द 'डाइनामाइट' अथवा विस्फोटक का कार्य करते हैं और रचना में मितव्ययिता की दृष्टि से उनका प्रयोग आवश्यक है।"[64] कभी–कभी रचना में इस प्रकार के नंगे और अराजक शब्द वह काम कर जाते हैं जो गंभीरता काफी मशक्कत के बाद भी नहीं कर पाती, शायद अकविता इसी औजार का उपयोग करना चाहती है। क्योंकि उसे लगता है कि साधारण ढंग की कविता और प्रचलित चिंतन पद्धतियाँ समस्या का समाधान नहीं कर सकती। इसलिए अकवि अमर्यादित होने का खतरा उठाने को तैयार है क्योंकि उसे लगता है कि व्यवस्था बिना इसके दुरूस्त नहीं हो सकती –

पशुओं के साथ जीना निहायत जरूरी है
यह खयाल ही एक बहुत बड़ी यातना है
लेकिन अमर्यादित होना
फिर से सही होने के लिए अनिवार्य प्रार्थना है। [65]

(लीलाधर जगूड़ी)

राजकमल चौधरी ने अपनी कविताओं में यौन बिम्बों एवं रूपकों की अतिशयता से विचलित आलोचकों द्वारा उनको अश्लील करार दिए जाने पर विचार करते हुए कहा "और, इतनी बातों के बाद इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि मैं या मेरे समय का कोई भी दूसरा मनुष्य अपनी कविता में कितना 'अश्लील' होता है, शरीर

के किन अंगों और दृश्यों का वर्णन करता है, कितनी मात्रा में गांजा या मस्कोलीन या चरस लेता है, किन गलियों और नाबदानों में रात काटता है, किस प्रकार की यातनाओं और बर्बरताओं को बरदाश्त करता है और किन शब्दों को अपना दास अथवा ईश्वर स्वीकार करता है।

"फर्क सिर्फ इस बात से पड़ता है कि वह अपनी कविता को अपना जीवन मानता है या नहीं और वह युद्धरत् है या तटस्थ।"[66] धूमिल ने राजकमल चौधरी के रचना संसार में व्याप्त अश्लील शब्दों को लक्ष्य करके लिखा है –

अपनी वासनाओं के अंधेरे में
वह खोया हुआ देश था।[67]

(धूमिल)

इस खोये हुए देश को खोजने के लिए ये कवि इन यौन विम्बों एवं अनैतिक शब्दावलियों द्वारा उसे कुहासे को काटते हैं जो इस सम्पूर्ण परिवेश पर छाया हुआ है। वे इस अराजक एवं अश्लील भाषा की आँच से व्यवस्था की खोल को झुलसा देना चाहते हैं। विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने इस पर विचार करते हुए लिखा है "मानवद्वेषी इस नवीन संस्कृति और सभ्यता के बढ़ते कदमों को देखकर उसके अंतर्विरोधों को पहचान कर हिन्दी का समकालीन कवि, समकालीन राजनीति, शिक्षा, संस्कृति आदि सभी क्षेत्रों में व्याप्त वीभत्सताओं को वीभत्स भाषा में कहता है, क्योंकि सभ्य भाषा को सभ्य समाज कभी नहीं सुनता, वह उग्र और उद्धतभाषा पर ही कान देता है। .....वह आम आदमी के प्रति पक्षधरता है जो वर्तमान जीवन पद्धति की कुत्साओं को अभद्रशैली में व्यक्त करती है। पुरानी कविता के संस्कारों का अभ्यस्त पाठक चौंकता है। उसकी संवेदना पर आघात लगता है। उसे यह गुंडई पसंद नहीं आती। लेकिन, कवि जब मानस विरोधी वर्गों और शक्तियों की हरकतों की अश्लीलता की ओर संकेत करता है तब पाठक स्वातंत्र्योत्तर जनद्रोही दशाओं की कुत्सितता और कुरुपता पहचान लेता है और समकालीन कविता की भाषा का नंगापन जायज लगने लगता है।"[68]

अकविता में प्रचलित यह उन्मुक्त यौन शब्दावली तत्कालीन भयावह समय के प्रहारों से उद्विग्न कवि की संवेदना का क्रोधपूर्ण वक्तव्य है जिसके अन्य आशय नहीं लिए जाने चाहिए। उन्हें बीमार, विचलित, गैर साहित्यिक, अमर्यादित एवं बाजारु कहना उनकी रचनात्मक ईमानदारी के साथ अन्याय होगा। स्त्री के प्रति अमर्यादित होना एवं स्त्री शरीर को विलासिता की वस्तु मानने का उन पर लगने वाला आरोप उनकी रचनाओं को परिप्रेक्ष्य विच्छिन्न कर व्याख्यायित करने का परिणाम है। अकविता के एक

महत्वपूर्ण कवि राजकमल चौधरी की निम्नलिखित कविता उनके स्त्री सम्बन्धी वास्तविक दृष्टिकोण को व्यक्त करती है –

डस्टबीन के जंगल में, कूड़े के ढेर पर अड़ी हुई
ट्राम जंक्शन के पार्श्व में कोयले के टीले पर खड़ी हुई
पार्क में, काठ के टूटे बेंच में ताजा शव–सी गड़ी हुई
एक अर्द्धविक्षिप्त नारी, कल बनेगी माता
नए जनमे हुए चमगादड़ नोचने लगेंगे उसके सूखे स्तन
जय हे, जय हे, जय जय जय हे भारत भाग्य विधाता
गाएंगे स्कूली लड़के लड़कियाँ, हर रोज हर क्षण

कंधों का सहारा दिए, अपनी बाहों में बाँधकर
अंधेरी गलियों से उसे खींच लाता हूँ अपने घर
तभी तड़प उठता है कानों में मकान मालिक का निर्दय स्वर
'यहां नहीं लाने सकता है, भद्रलोक का गृह है
कैसा मानुस है तुम, क्या नया–नया आया है कलकत्ता?

कहां जायेगी फुटपाथ की यह शकुन्तला, विश्व निस्पृह है
मैं आश्रयहीन कण्व हूँ, और दिशाएँ हैं दुष्यन्तों की सत्ता!

इसी विश्वास पर, किन्तु, जीवित हूँ, जाग्रत हूँ, कार्यरत हूँ
कण्व नहीं रहूं न सही, किन्तु ओ मां, मैं तुम्हारा भरत हूँ। [69]

यह कविता स्पष्ट करती है कि समाज में स्त्री को राजकमल उपेक्षित मानते थे तथा उसके सम्मानजनक स्थान के लिए चिंतित थे। उसकी इस दुर्दशा के लिए भी वह उस तथाकथित भद्र लोक (अभिजात्य वर्ग) को ही जिम्मेदार मानते थे जो नैतिकता एवं मर्यादा की खोल में छिपकर मर्यादा–हरण का नाटक खेल रहा था। उसकी इसी दोहरी मानसिकता एवं व्यवहार पर अकविता के कवि उन्मुक्त यौन विम्बों द्वारा हमला करते हैं। वे इस हमले द्वारा उसकी खोल को तोड़कर उसके अन्दर की अनैतिकता को बाहर लाते हैं। लक्ष्मीकांत वर्मा ने काव्य में अश्लीलता पर विचार करते हुए अपने लेख 'श्लीलता अश्लीलता : एक विवेचन' में लिखा है "आज की मानसिक स्थिति में जितना भी जीवन का अनुभूत है, वह एक प्रवाहशील 'पैनेल' की पृष्ठभूमि में व्यक्त हो रहा है। यह 'पैनेल' उतना निरावरण नहीं है जितना कि वह अकेली अनुभूति

जिसे हम इस 'पैनेल' से पृथक करके देखेंगे तो निश्चय ही वह संदर्भच्युत होने के नाते अश्लील, विच्छिन्न एवं संदर्भहीन लगेगा। किन्तु इसके विपरीत यदि हम उसे संदर्भ के साथ देखेंगे तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि आज भी सम्पूर्ण संवेदना एक विभीषिका और संक्रांति के संदर्भ में व्यक्त हो रही है और उसमें जो कुछ भी निरावरण होकर प्रस्तुत हो रहा है वह इतना नग्न नहीं है। वस्तुतः जब हम उसे प्रवाहशील 'पैनेल' से अलग करके देखते हैं तभी वह नग्न लगने लगता है। यह नग्नता जितनी संदर्भहीनता के कारण लगती है उतनी संस्कारहीनता के कारण भी।"[70]

अकविता के रचना संसार में पायी जाने वाली यह यौन उन्मुक्तता तत्कालीन परिवेश की प्रतिक्रिया हैं :

मैंने पहली बार महसूस किया है
कि नंगापन
अन्धा होने के खिलाफ
एक सख्त कार्यवाही है। [71]

(धूमिल)

स्पष्ट है कि अकवि अमर्यादित होने का खतरा जानबूझकर उठाता है। अकविता स्त्री शरीर का उपयोग व्यवस्था को नग्न करने के एक हथियार के रूप में करती है। यद्यपि हर जगह यह उपयोग ठीक ढंग से नहीं हो पाता जिसके कारण उसकी गंभीरता खण्डित होती है तथा उसके उद्देश्य के प्रति पाठक के मन में शंका भर जाती है। परन्तु जहाँ पर अकवि कलात्मकता का ठीक ढंग से निर्वाह कर ले जाता है वहाँ उसकी कविता व्यवस्था की अमानवीयता का सशक्त दस्तावेज बन जाती है। यद्यपि बाद के वर्षों में स्वयं अकविता के कवि इस प्रकार की यौन–शब्दावलियों से अपने को अलग रखने लगे थे जिसका उदाहरण है उसके एक प्रमुख कवि राजकमल चौधरी द्वारा 1.7.1966 को श्रीराम शुक्ल को लिखे पत्र का एक अंश "स्त्री शरीर बहुत स्वास्थ्यप्रद वस्तु है – लेकिन कविता के लिए नहीं, संभोग करने के लिए। कविता में स्त्री शरीर अन्य सभी विषयों की तरह एक मात्र विषय है–कविता का कारण या कविता का प्रतिफल नहीं–मैं ऐसा ही मानता हूँ, तुम जो मानते हो उसे मानते रहो, उसे मानते रहने की तुम्हें पूरी आजादी हासिल है। अब, कविता के लिए हमारी राजनीतिक आर्थिक और सामाजिक परतंत्रताएँ अधिक आवश्यक विषय हैं। स्त्री शरीर को राजनीतिज्ञों, सेठों–बनियों, और इसके प्रचारकों ने अपना हथियार बनाया है– हमलोगों को अपना क्रीतदास बनाए रखने के लिए। बेहतर हो, हम पत्रिकाओं के कवर पर छपी हुई अधनंगी स्त्रियों और अपने पब्लिक सेक्टर और प्राइवेट सेक्टर के मालिकों के लिए हमारा ईमान,

हमारा जेहन, हमारी ताकत खरीदकर हमें नपंसुक बनाने वाली अधनंगी स्त्रियों को हम अपने साहित्य में उसी प्रकार प्रश्रय नहीं दें, न आत्मरति के लिए और न परपीड़ा के लिए। मैं श्लील–अश्लील नहीं मानता हूँ, लेकिन हम कवि हैं, हमें न तो नपुंसक और न स्त्री अंगों का वकील बनना चाहिए।"[72] स्पष्ट है कि राजकमल कविता में यौन सम्बन्धों के वर्णन के बारे में संतुलित दृष्टिकोण रखते थे और उसके कलात्मक एवं नियोजित रचनात्मक उपयोग के हिमायती थे। वे कविता को बाजारु साहित्य से इतर एक ईमानदार रचनात्मक कार्यवाही मानते थे फलस्वरूप उन्होंने कवि को स्त्री अंगों का वकील बनने के खिलाफ फटकार लगायी। साथ ही यह भी लगता है कि यह कवि कविताओं में स्त्री अंगों एवं यौन सम्बन्धों के अबाध चित्रण से बोर हो चुका था। उसे लग रहा था कि व्यवस्था को नग्न करने का उसका दायित्व पूरा हो चुका है। इसलिए वह कविता को राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक परतंत्रताओं की तरफ उन्मुख करना चाहता था क्योंकि उसे उन्हीं में कविता का भविष्य दिखायी देता था।

(घ) अलगाव बोध : सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य के अन्दर अलगाव बोध की उत्पत्ति एक प्रमुख समस्या रही है। यह अलगाव व्यक्ति को उसके परिवेश एवं स्वयं खुद के साथ सहज होने में बाधा डालता है। प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक हीगल ने अलगाव–बोध को मनुष्य के मस्तिष्क में विकसित होने वाली प्रक्रियाओं में ही एक प्रक्रिया माना है। उसका मानना है कि इसकी उत्पत्ति में स्वयं व्यक्ति के मनोजगत् में चलने वाली घटनाओं का हाथ होता है।[73]

मार्क्स ने अलगाव बोध को पूंजीवादी उत्पादन पद्धति का एक प्रमुख प्रभाव माना है। "सामंती समाज में मनुष्य के पास प्राकृतिक संसार को नियन्त्रित करने के लिए किसी प्रकार के विशिष्ट संसाधन नहीं होते। .....सारे सामाजिक सम्बन्ध श्रम की उत्पादन शक्तियों के निम्नस्तरीय विकास प्रणाली के जरिए नियंत्रित होते हैं जिसके फलस्वरूप भौतिक जीवन के निर्माण एवं पुनरुत्पादन की प्रक्रिया में मनुष्य–मनुष्य के बीच सम्बन्ध काफी कम होता है। इसी कारण से मनुष्य और प्रकृति में भी सम्बन्ध सीमित होते हैं। भूमि वहाँ उत्पादन का एक स्रोत होती हैं तथा सामंती पद्धति में इसकी इतनी प्रभावशाली भूमिका होती है कि मनुष्य स्वयं को व्यक्ति के रूप में नहीं अपितु भूमि से सम्बन्धित करके देखता है।"[74]

इसके फलस्वरूप इस व्यवस्था में अलगाव–बोध की प्रवृत्ति सीमित एवं लगभग एकस्तरीय होती हैं। यह अलगाव निम्नस्तरीय उत्पादक शक्तियों, मनुष्य के भूमि

के अधीन होने तथा सामंती वर्ग के अतिचार से पैदा होता है। परंतु इस व्यवस्था में किसान स्वयं अपनी जमीन पर कार्य करता है तथा अपनी आवश्यकता के अनुसार उन चीजों को स्वयं उत्पादित भी करता है जो उसके परिवार के लिए आवश्यक होते हैं। यदि वहाँ व्यक्ति जमीन से बँधा होता है तो जमीन भी व्यक्ति से बँधी रहती है। इसके फलस्वरूप व्यक्ति अपने श्रम के अधिकांश भाग से जुड़ा रहता है। कुछ ही भाग उसे कर के रूप में सामंत को देना पड़ता है।

परन्तु पूंजीवाद के आने के बाद स्थितियाँ बदल जाती हैं। "बुर्जुआ वर्ग एक ऐसा समाज चाहता है जिसमें सब कुछ पूंजी के जरिए खरीदा बेचा जा सके। खरीद–बिक्री की यह प्रक्रिया अलगाव–बोध का मुख्य आधार होती है। इस प्रकार के समाज के निर्माण के लिए जनसामान्य की जमीन को निर्दयतापूर्वक हस्तगत कर लिया जाता है या उसे उसके लिए निषिद्ध कर दिया जाता है। इसके परिणामस्वरूप समाज का बहुसंख्यक वर्ग उत्पादन के साधनों पर प्रत्यक्ष अधिकार से वंचित हो जाता है, इसके परिणामस्वरूप भूमिहीन मजदूरों का एक बड़ा वर्ग पैदा होता है, जिसको जीवित रहने हेतु स्वयं को वेतनभोगी मजदूरों के वर्ग में बदलना पड़ता है। यह शोषण का एक नया स्वरूप है। पूंजीवाद के इस प्रभाव के फलस्वरूप मनुष्य, उत्पादन के यन्त्रों तथा उत्पादित वस्तुओं के बीच एक नये प्रकार के सम्बन्ध की सृष्टि होती है।"[75]

अब, उत्पादन कैसे होगा? किस वस्तु का होगा? इस पर से जनसामान्य का अधिकार समाप्त हो जाता है। वह वेतनभोगी मशीन के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इसका कारण होता है श्रम के उत्पाद से उसका पूर्णरूपेण कट जाना। उसके सामने मजबूरी में काम करने के अलावा स्वयं को चलायमान रखने के लिए कोई दूसरा विकल्प नहीं होता। इस स्थिति में श्रम जबरदस्ती के श्रम में परिवर्तित हो जाता है। कार्य न करने का विकल्प भी समाप्त हो जाता है। पूंजीवादी उत्पादन प्रक्रिया श्रम का स्पष्ट रूप से विभाजन कर देती है। प्रत्येक मजदूर को सिर्फ एक या दो कार्यक्षेत्र में विशेषज्ञता हासिल करनी होती है। वही उसका कार्यक्षेत्र होता है। इसके परिणामस्वरूप वह व्यापक मानवीय शक्तियों एवं कौशलों से विलगित होकर सिर्फ एक या दो क्षेत्रों में कैद हो जाता है। यह सम्पूर्ण प्रक्रिया मनुष्य में जिस प्रकार के अलगाव की सृष्टि करती है मार्क्स ने उसे चार वर्गों में बाँटा है – श्रम के उत्पाद से अलगाव, श्रम की प्रक्रिया से अलगाव, मनुष्य का मनुष्य से अलगाव तथा मानवीय प्रकृति से अलगाव।

अलगाव बोध अकविता के रचना संसार में पायी जाने वाली एक महत्वूपर्ण विशेषता है। परन्तु इसमें श्रम के उत्पाद से अलगाव तथा श्रम की प्रक्रिया से

अलगाव की प्रवृत्तियाँ बहुत सीमित हैं। मुख्य रूप से इसमें मनुष्य का मनुष्य से अलगाव तथा मानवीय प्रकृति से अलगाव ही मिलता है। सौमित्र मोहन की पंक्तियाँ हैं –

मैं वातावरण से परे फेंक दिया गया हूँ
जहाँ मुझे अपनी ही आवाज सुनायी
नहीं देती। [76]

यह प्रचलित संस्कृति के कुप्रभावों के फलस्वरूप व्यथित कवि मन का उसके सम्पूर्ण वातावरण से अलगाव है जहाँ उसे स्वयं की पहचान भी स्पष्ट रूप से नहीं मिलती। इस अलगाव के फलस्वरूप मनुष्य–मनुष्य के बीच के सम्बन्ध विघटित हो चुके हैं –

हम अपने सम्बन्धों में इस तरह पिट चुके हैं
जैसे एक गलत मात्रा ने
शब्दों को पीट दिया है। [77]

(धूमिल)

भीड़ में भी व्यक्ति अपने को अकेला महसूस करता है। यह मनुष्य से मनुष्य के अलगाव का प्रभाव है –

मैंने अपने को भीड़ से घिरा महसूस नहीं किया
और सभी कुछ खुश होकर अपने पास से गुजर जाने दिया। [78]

(सौमित्र मोहन)

इस पारस्परिक अलगाव ने प्यार जैसी सर्वोत्कृष्ट मानवीय प्रवृत्ति को भी सर्द बना डाला है –

आजकल इतना सर्द
होता है प्यार, कि साड़ी फंसने से, ओठ कसने से, यानी
सांप डंसने से भी गर्म नहीं होता। [79]

(राजकमल चौधरी)

मन बोझिल है, उस पर उदासी की चादर है, अर्थ संदर्भहीन और शून्य हैं ऐसे अकेलेपन में चारों ओर घुटन नहीं तो फिर क्या होगी –

हाथों में बोझ है हजारों मन
लंगरों का
– – – – – – – – – –
मन में जम गयी है उदासी, झड़ते

खण्डहरों की

– – – – – – – – –

आज अर्थों में छिपी हैं संदर्भविहीन शून्यता
कांच के सतरंगी प्रतिविम्बों में खुद गयी है
अकेली उड़ानों की काली थकान
बौरायापन
सूरज के चारों ओर चक्कर लगाती
झुलसने का
बेपीर घुटन का [80]

(सौमित्र मोहन)

इस बेपीर घुटन का कारण है मनुष्य के पारस्परिक अलगाव के फलस्वरूप उत्पन्न आधारहीनता एवं बेजारापन। इस प्रक्रिया ने उसके अस्तित्व को इस प्रकार से विघटित कर दिया है कि उसे लगता है जैसे वह कंधे पर अपनी लाश ढो रहा है। वह समय से विलगित होकर आधारहीन एवं अकेला हो चुका है –

तैरता रहता है पूरा शरीर। दोनों हाथ, और बाहें
और पांव, और कंधे – – – – – – – – –
और कंधे, पर अपनी लाश का बोझ

और बेहद खामोश नदी समय तैरती रहती है
और, लहरें गति तैरती रहती हैं
और, कूल किनारे शब्द – – – – – – – – –
नौका? और पतवार? और
इन सबमें
इन सबसे अलग एक चांद तैरता रहता है। [81]

(राजकमल चौधरी)

यह अलग तैरता हुआ चाँद वह एकाकी मनुष्य है जिसकी मानवीयता की व्यापकता एवं कौशल को पूंजीवादी समाज के संक्रमण ने सीमित, एकस्तरीय एवं अप्रासंगिक बना डाला है। वह समाज की मुख्यधारा से कट चुका है। पूंजीवादी उत्पादक शक्तियों ने उस पर जो अत्याचार किए हैं, उससे जो अमानवीय एवं बाध्यतापूर्ण मांग की है उसने उसके स्वत्व को बुरी तरह झकझोर दिया है। इस स्थिति ने उसके विकल्पों को

भी समाप्त कर दिया है। प्रश्न भी समाप्त कर दिए गए हैं। अब बाकी है तो बस एक गहरी टूटन –

एक ही स्थितिहीनता में प्रश्नों की सारी नौकाएं डूब गईं
एक ही अशिष्ट अनिश्चय में तैरने लगा जल पर हलाहल
शीशे चटख गए तस्वीरों पर मकड़ी के जाल
रोशनी का बुझना, और जैसे सारी दीवारें मेरे ही कलेजे पर बैठ गईं
और होठों पर फूटती चिनगारियाँ राख की कुंडलियाँ
सांप फन काढ़ता है और टूट जाता है। [82]

(राजकमल चौधरी)

फ्रिट्ज पैपेनहिम ने आधुनिक समाज में व्याप्त अलगाव बोध पर विचार करते हुए लिखा है "विज्ञान एवं प्रोद्योगिकी के जरिए आत्मसंतुष्टि की संभावना तथा वास्तविकता में एक प्रकार का अंतर्विरोध पैदा हो गया। इस प्रक्रिया ने मनुष्य में इस प्रकार की भावना पैदा कर दी जिससे उसे लगने लगा कि वह वस्तु के रूप में परिवर्तित हो गया है। इस विरोधाभास ने लोगों में एक प्रकार की असुरक्षा तथा भावनात्मक उलझाव पैदा कर दिया। वे स्वयं को व्यक्ति के रूप में नहीं अपितु वस्तु या पूंजी के रूप में महसूस करने लगे। उन्होंने कार्यक्षेत्र में स्वयं को नौकरी पेशा, चुनाव के सम्बन्ध में संभावित मतदाता, एक ऐसे उपभोक्ता जो कि चीजों को खरीदने के लिए मजबूर है भले ही उसे ऋण के जाल में फंसना पड़े, एक ऐसा सैनिक जिसे युद्ध पर बिना उसकी मर्जी के भेज दिया जाय, के रूप में महसूस करने लगे। यह अलगाव लोगों के परिवार तथा उनके सबसे नजदीकी व्यक्तिगत सम्बन्ध में भी प्रवेश कर गया।"[83]

इस प्रवृत्ति ने पारिवारिक सम्बन्धों को भी अलगाव की भावना से भर दिया। परिवार अब प्यार एवं स्नेह के नहीं अपितु बाध्यता के प्रतीक हो गए –

जो हमेशा के लिए कैद हो गया
उस आकाश को घर कहते हैं
और हम सब, कहीं न कहीं उसी में रहते हैं। [84]

(लीलाधर जगूड़ी)

अलगाव बोध ने मानवीय प्रकृति को भी असंतुलित कर दिया। मनुष्य का मानवीय प्रवृत्तियों से अलगाव होता गया –

रात भर एक तनहीन टाँग तम्बूरे को बजाती रही
सेबों की जोड़ी बिस्तरे पर रखे हुई
छिद्रित मोम को हाथों से छूते हुए

सिर झुकाए खड़ा कोई। [85]

(सौमित्र मोहन)

मानवीय प्रकृति से इस अलगाव के फलस्वरूप अब अकवि सिर्फ एक मजबूर दर्शक की भाँति घटनाओं को घटित होते देख रहा है –

बहुत हल्की हवा–कितनी देर तक अटका रह गया है एक पत्ता हवा में
सुनसान हरापन कितनी बार परत बदल गया देने के लिए अलविदा
मैंने देखा : और सिर्फ देखा
कि एक दृश्य था कुछ बदलते जाने का
समय बोध से परे
एक झुका हुआ मुँह हाथों को चूमते हुए। [86]

(सौमित्र मोहन)

अकविता के रचना संसार में व्याप्त यह अलगाव बोध नवविकसित पूंजीवादी संस्कृति के दबाबों का नतीजा है जिसने मनुष्य को उसके स्थायी सम्बन्ध–आधारों से काटकर एक ऐसी अनिश्चित एवं संदर्भहीन परिस्थिति में फेंक दिया है जहाँ वह व्यक्ति न होकर एक वस्तु के रूप में परिवर्तित हो गया है। अकविता इस ऐतिहासिक दुर्घटना के फलस्वरूप उत्पन्न भावनात्मक अलगाव की कविता है जिसमें मानवीय प्रवृत्तियों की टूटन, मनुष्य का पारस्परिक अलगाव और इसके फलस्वरूप उत्पन्न स्वत्व के विघटन एवं पहचान की लोप का दंश छिपा हुआ है। इस दर्द से आहत अकवि की संवेदना व्यवस्था एवं व्यक्ति के बीच लगातार हांट करती है, उसकी चिंता व्यक्ति को उसकी समग्रता में बचा ले जाने की है परन्तु परिस्थिति का दबाब उसे एकाकी बना देता है जहाँ वह सिर्फ अपने अलगाव को, सामाजिक अलगाव के साथ देखता रहता है, बिना किसी हरकत के शांत निश्चेष्ट एवं चिंतातुर।

(ड.) काव्य अभिजात्य का निषेध : अकविता काव्य की प्रचलित धारणाओं को स्वीकार नहीं करती अपितु उनसे अलग अपना एक अलग काव्यशास्त्र बनाने की कोशिश करती है। पारंपरिक काव्य–प्रतिमानों से स्वयं को विच्छिन्न करना अकवि की कोशिश है क्योंकि वे अपना संदर्भ एवं प्रासंगिकता खो चुके हैं। जगदीश चतुर्वेदी के शब्दों में "आज की कविता विराट विश्व में चल रहे विनाश की अविराम प्रक्रिया की देन है। उस कास्मिक मानव की उपज है, जिसने महायुद्धों की विभीषिका को अपने समीप एक प्रेत के रूप में खड़ा पाया है। अकविता के कवि ने इस विभीषिका से संत्रस्त मानव की

भयावह तथा कंपा देनेवाली स्थिति को अपने संवेदनशील मस्तिष्क में स्पंदित होते महसूस किया है। आज का कवि उन तमाम प्रतीक चित्रों, पौराणिक विम्बों या प्रकृति खण्डों से कट गया है जिन्हें बीते हुए काव्य का वैभव या समृद्धि अथवा वस्तुजगत् माना करते थे।"[87]

इस प्रकार के संक्रमणकालीन परिदृश्य में परंपरागत ढंग की कविताएँ लिखना प्रासंगिक नहीं है न ही संभव। परिवेश विच्छिन्न होकर कविता लिखी नहीं जा सकती और परिवेश सापेक्षता गैर परंपरागत काव्य की मांग कर रही है –

वेश्याओं के ऊँचे पलंग हैं या जली हुई
लकड़ियां। कही जगह खाली नहीं है गज
भर, जहाँ बैठकर लिखी जा सके गीता,
या गीतांजलि। ऊँचे पलंग हैं, या रसोई
घर की जली हुई लकडियाँ हैं। [88]

(राजकमल चौधरी)

परंपरागत काव्य विवेक और परिवेश के बीच एक बड़ा फासला बन गया है। अकवि इस फासले को पाटना चाहता है। वह आस्वाद की प्रचलित धारणाओं की परवाह नहीं करता अपितु उनको उपेक्षित करके समय एवं समाज के हिसाब से अपने काव्य विवेक को संयोजित करता है। उसे इस बात की परवाह नहीं कि तत्कालीन समाज उसकी कविताओं के बारे में क्या विचार रखता है। परंतु उसे इस बात का विश्वास है कि इतिहास में उसकी कविताओं को स्थान जरूर मिलेगा। वह परिधि के अलगाव को केन्द्र में लाता है, साहित्य की मुख्यधारा का अभ्यस्त पाठक चौंकता है। परंतु जब पाठक अपने आप को उन समस्याओं के साथ जोड़ता है तो कविता के साथ उसका तादात्म्य होता जाता है –

तुम तो निहायत ईमानदारी से किताबों के रास्ते कविता के करीब पहुँचे हो
मगर बात यह है कि अब तुम्हारी पहुँच और मेरी कविता के बीच
बहुत–सी सड़कें बन गई हैं और उन सड़कों के बीच पिछले बीस सालों में
कई गढ्ढे हो गए हैं
इसलिए अच्छा तो यह है कि
जब तुम्हें कुछ भी उटपटांग लगे
तब उसके लिए व्यर्थ की परेशानी मत उठाओ
(मान लो सब बकवास है) उसे तोलो मत, न नापो
न पहचानने की कोशिश में दौड़ लगाओ

कविता को वैसे ही छोड़ दो
जैसे अखबार की कई खबरों के शीर्षक पढ़कर
तुम आगे बढ़ जाते हो या पूरा पन्ना ही उलट देते हो
होता यह है उसे कोई और पढ़ता है मगर उसे कोई पढ़ता जरूर है
सच्चाई यह है कि वही उसमें से कुछ पकड़ लेता है
और जो सबसे अधिक उस अंधेरे को
अपने अँधेरे के साथ मिला पाता है
वह मेरी कविता से होकर
मेरे पास आ जाता है। [89]

(श्याम परमार)

यह कविता से नयी अपेक्षा है और शायद यह अपेक्षा ही उसे 'अकविता' बनाती है। श्याम परमार ने लिखा है "रिद्म रहित अनासक्त भाव की अकविता कोई वाद नहीं। वह मात्र विच्छेद का संकेत है। विच्छेद साहित्यिक औपचारिकता से, सातत्य मान्यताओं से, संदर्भविहीन अभिप्रायों से, छंद से, मृत प्रायः काव्य मुहावरों से। यहाँ अनुभूति की चेतना व्यक्ति को उसके अतीत से काटती चलती है। ऐसा तभी होता है, जब हमारा मन प्रतिबद्धताओं को छोड़ दे और तथ्यों को पूर्ण निर्ममताओं के प्रेक्ष्यबिन्दु से समझने का प्रयत्न करे।[90]

प्रतिबद्धता के नकार से तात्पर्य यह नहीं कि कविता की भूमिका को ही नकार दिया जाय परन्तु प्रचलित धारणाओं के नकार से है –

कविता में जाने से पहले
मैं आपसे ही पूछता हूँ
जब इससे न चोली बन सकती है
न चोंगा;
तब आपै कहो
इस ससुरी कविता को
जंगल से जनता तक
ढोने से क्या होगा?
आपै जवाब दो
मैं इसका क्या करूँ
तितली के पंखों में पटाखा बांधकर
भाषा के हलके में

कौन–सा गुल खिला दूँ?

जब ढेर सारे दोस्तों का गुस्सा
हाशिये पर

चुटकुला बन रहा है

क्या मैं व्याकरण की नाक पर
रूमाल लपेटकर
निष्ठा का तुक
विष्ठा से मिला दूँ? [91]

(धूमिल)

यह प्रचलित काव्य के प्रतिमानों को अपर्याप्त एवं संदेहास्पद ठहराने की कोशिश है। 'न इससे चोली बन सकती है न चोंगा', 'तितली के पंखों में पटाखा बांधना' तथा 'निष्ठा का तुक विष्ठा से मिलाना' जैसे शब्द पारंपरिक काव्य प्रतिमानों तथा प्रचलित काव्य–संसार की खिल्ली उड़ाते हैं। अकवि औपचारिक एवं अभिजात्य काव्य भंगिमाओं को 'आपै कहो', 'आपै जवाब दो' जैसे लोक प्रचलित एवं अनौपचारिक काव्य–प्रयोगों के जरिए प्रतिस्थापित करता है। इस प्रक्रिया में वह जन–भाषा को काव्य के नजदीक ले आता है, तथा उसके बनावटी एवं वायवीय आभामंडल को तहस–नहस कर देता है। दूसरी तरफ वह इस प्रक्रिया के द्वारा कविता को आम–आदमी के नजदीक लाता है, उसे वैचारिक बहसों–मुबाहसों तथा दार्शनिक मुद्राओं से खींचकर सामान्य भावभूमि की तरफ अग्रसर करता है। इस प्रक्रिया में नयी कविता का लघु–मानव का वैयक्तिक आभामण्डल टूटता है, कविता वैयक्तिक कमजोरियों के फलस्वरूप उभरे सैद्धान्तिक रोमांस से बाहर निकलकर समाज एवं परिस्थिति के सापेक्ष्य संचरण करने लगती है। विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने अकविता की भाषा सम्बन्धी देन पर विचार करते हुए लिखा है "अकविता (एंटी–पोएट्री) की धारणा ही काव्य भाषा के स्थान पर लोकभाषा के प्रति रुझान पर आधारित है।"[92]

शिवप्रसाद सिंह ने सम्पूर्ण युवा लेखन की सबसे बड़ी उपलब्धि उसकी इस भाषा सम्बन्धी देन को ही माना है "युवा लेखन की सबसे बड़ी उपलब्धि भाषा विषयक है। इस आंदोलन ने भाषा को नंगी करके, उसके उपर पड़े सदियों के आवरणों को चीर कर एक बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य किया है। वही प्रवृत्ति निःसंदेह '62 के बाद

अपने पूरे जोश–खरोश के साथ उभरी है। विशेषणों को तोड़ने वाली इस प्रवृत्ति को भी कुछ लोग चीनी आक्रमण की देन कहते हैं। विशेषण विशेष्य को विशिष्ट बनाता है, किन्तु उस युग में जहाँ विशिष्टता तानाशाही का रूप लेने लगे, न्याय, सत्य, ईमानदारी तिरष्कृत हो। भ्रष्टाचार, भूखमरी का बोलबाला हो तो जनता की आत्मा का कुंभीपाक अपने आप विस्फोट करता है। सभी विशेषण उसी धक्के से टूटते हैं। किसान, मजदूर, बाजार में काम करने वाले सभी तरह के सामान्य व्यक्ति अपने हृदय के आक्रोश को अपनी भाषा में व्यक्त करने लगते हैं। साहित्यकार की भाषा की हदबंदी टूट जाती है। जनभाषा अपने पूरे आक्रोश के साथ समुस्थित होकर साहित्यभाषा में प्रविष्ट हो जाती है।''[93]

अकविता किसी वायवीय स्वप्नलोक का बयान नहीं है अपितु विसंगति से परिपूर्ण व्यवस्था में दुःख झेल रहे, जर्जर हो रहे, संत्रस्त एवं कांपते मनुष्य का शब्दों के माध्यम से अपनी स्थिति का यथातथ्य अंकन है। यह अंकन उसकी अपनी जनभाषा में होता है। अभिजात्य के गौरव से परिपूर्ण मोहक काव्य शब्दावलियाँ यहाँ मानवीय यथार्थ की आँच में झुलस जाती है। शब्दों की अदालत में खड़ा कवि अपनी बेकसूरी का हलफनमा सीधी–साधी, नग्न एवं बेलौस भाषा में देता है। इस प्रक्रिया में अकविता जनभाषा के जरिए आम आदमी से सीधे जुड़ती है –

इस वक्त सच्चाई को जानना
विरोध में होना है
और यहीं से –
अपराधियों की नाक के ठीक नीचे
कविता पर बहस शुरू होती है।
चेहरे से चेहरा बटोरते हुए
एक तीखा स्वर
सवाल पर सवाल करता है
सन्नाटा फूटता है
गूंगे के मुंह से उत्तर फूटता है
कविता क्या है?
कोई पहनावा है?
कुर्त्ता पाजामा है
ना, भाई ना
कविता –

शब्दों की अदालत में खड़े बेकसूर आदमी का
हलफनामा है।
क्या यह व्यक्तित्व चमकाने की चीज है
ना, भाई ना
कविता भाषा में
आदमी होने की तमीज है। [94]

(धूमिल)

अकविता की इस यथार्थ सापेक्ष्य तथा जनजीवन से जुड़ी भाषा सम्बन्धी विशेषता को लक्ष्य करते हुए श्याम परमार ने लिखा है "साफगोई पसन्द अकविता की भाषा रोमांटिक स्तर की नहीं है, उसमें शालीन विक्षोभ है। स्पष्टतः अनगढ़ता उसका स्वभाव है। जीवन में प्रविष्ट कोलाज वृत्ति का विघटन अकविता की व्यंजना को तिक्त और बेलौस बनाता जा रहा है, इसलिए इसके कृतित्व में कोई लय नहीं संगीताभास नहीं। संगीत और लय को लेकर, कविता की व्याख्या बहुत हो चुकी, चूंकि अकविता अरुचि प्रतिक्रिया है, इसलिए आंतरिक रूप से असंगीतात्मक है। क्षण जाये संवेगों की यह सृष्टि नहीं। इसका अग्निबीज समाज की अनेकानेक विरुपित मुद्राओं और व्यक्ति की विसंगत अभिवृत्तियों में निहित है।"[95]

अकवि किसी भी ऐतिहासिक परंपरा से अपने को जोड़ना नहीं चाहता। उसे लगता है कि परंपरा से उसे जो कुछ मिला है वह सब महत्वहीन है। भाव, शब्द एवं अर्थ तीनों ही परिवेश निरपेक्ष एवं यथार्थ विच्छिन्न हो चुके हैं। इस अराजक परिवेश में अगर कविता ने खुद को नहीं बदला तो उसका अस्तित्व भी खतरे में है –

अब सभी लोग हमें पागल कहते हैं
कि हम कंधो पर ढो रहे हैं इतिहास
कि हम दिमाग में लादे हुए हैं
एक अर्थहीन परम्परा
भाव का उपयोगहीन विस्तार
शब्द का व्यवसायविहीन, लाभविहीन व्यापार।
कविता का क्या होगा? [96]

(राजकमल चौधरी)

इस उद्देश्य से प्रेरित होकर कविता को वह नकार या विरोध की भाषा से भर देता है क्योंकि उसे लगता है कि कविता का भविष्य परंपरा के निषेध में ही

सुरक्षित हैं। तल्कालीन कविता उसे नरक के समान लगती है जिसमें वह नहीं रहना चाहता –

मुझे सोचना है कि कविता क्या
मेरे लिए इस कदर बेगानी चीज हो सकती है।
मैंने केवल खुद को समझाया था
कि कविता एक नर्क हैं और मैं वहाँ
नहीं हूँ। [97]

(सौमित्र मोहन)

कविता को नरक कहने का अर्थ यह नहीं है कि अकवि कविता को ही बेकार की चीज मानता है अपितु ऐसा करके वह प्रचलित काव्य मूल्यों पर प्रहार करता है उन्हें अनुचित एवं अपर्याप्त सिद्ध करता है। धूमिल ने 1970 में लिखा था "एक दिन हम कविता को नकार की भाषा देकर तुष्ट थे, कल या कल से पहले। मैं मानता हूँ कि नकार चमत्कार नहीं था हमारे लिए। चमत्कारों का चमत्कार भी नहीं। नकार तब टूटने की गुस्सेवर मगर बारीक समझ से भरा हुआ तेवर था भाषा का। इस रास्ते कविता को मामूली आदमी के पैताने लाने की हरकत वर्षों पहले शुरू की गयी थी और आज वह हरकत फिर सिरहाने चली गयी है।"[98]

स्पष्ट है कि नकार की प्रक्रिया कविता की अभिजात्य मुद्रा को भंग करने के उद्देश्य से प्रयुक्त हुई थी। भाषा के नंगेपन एवं भदेसपन ने इसमें एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। बास्तव में नयी कविता की संवेदना बद्धमूल हो चुकी थी। उसके कवि परिस्थिति निरपेक्ष होकर ऐसे कलात्मक कुहासे में खो गए थे जहाँ से यथार्थ के नाम पर सिर्फ यथार्थ का भ्रम खड़ा किया जा रहा था। अकविता ने इस भ्रम को तोड़ा। उसने परिवेश एवं काव्य के बीच के खण्डित साहचर्य को फिर से जोड़ा। उसने खरे एवं स्पष्ट सत्य को कहने की वकालत की। इस प्रक्रिया में उसने प्रचलित काव्य–भंगिमाओं को बेदर्दी से काटने की वकालत की –

काट
कविता का गला काट
लेकिन मत पाट
रद्दी के शब्दों से भाषा का पेट
इससे ही
आदमी की सेहत
बिगड़ती है। [99]

(धूमिल)

नयी कविता में रुढ़ हो चुके पारंपरिक काव्य–प्रयोगों तथा नव–विकसित कलावाद का यह आक्रोशी लहजे में विरोध था। यह कविता को सीधे–सीधे परिवेश से जोड़ने की चिंता थी। श्याम परमार के शब्दों में "अकविता ने अपने समय की प्रचलित उन काव्योपचारिकताओं को नष्ट किया जो 'नयी कविता' में रुढ़ हो गयी थीं। ये औपचारिकताएँ सौंदर्यवादी रुझानें थीं, अपने क्षुद्रत्व (छोटेपन का भाव) में आदमी की लिजलिजी संवेदनाएं थीं, अन्तर्विरोधों की फ्रायडियन जिज्ञासाएं थीं, विज्ञान के प्रति चमत्कृत दृष्टि थी और सैतालीस के बाद आजादी प्राप्त कांग्रेस की महत्वाकांक्षाओं के अंधे विकास के समाधान की तरह से छायावाद से मुक्त होने की थोथी श्लाघा थी। इन सबके साथ रागात्मिकाएं थीं। जिनके सूत्र छायावाद से टूटे नहीं थे। बल्कि वे नयी कविता की सीधी–सीधी भाषा में ज्यादा स्पष्ट होकर सामने आये थे।"[100]

यह हिन्दी साहित्य में उभर रहे नवीन–छायावाद के वायवीय बाह्य आदर्शलोक तथा प्रयोगवाद–नयी कविता के असहाय आंतरिक लोक के खिलाफ निषेध एवं संघर्ष का आह्वान था, जिसने प्रचलित काव्य के अभिजात स्वरूप को नष्ट कर कविता को जनोन्मुख बनाया। कविता को सामाजिक अंतर्विरोधों को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने की क्षमता से लैस किया। यह कुछ वैसा ही प्रयास था जैसे कि निराला ने छायावादी भावुकता से मुक्ति के लिए कुकुरमुत्ता संग्रह की कविताएँ लिखीं थीं।

अकवियों ने कविता को कई नए विशेषणों से सम्बोधित किया। अन्तर्विरोधों का अन्वेषक (श्याम परमार), मुनासिब कारवाई (धूमिल), विपरीत कविता (जगदीश चतुर्वेदी) संस्कृति एवं ऐतिह्य से उत्तर मांगेगी कविता (राजकमल चौधरी) आदि। इस प्रक्रिया के द्वारा उन्होंने उसे एक अपारम्परिक पहचान देने की कोशिश की। राजकमल चौधरी ने लिखा है "मूल्यों एवं व्यापारों से टूटकर अलग होने की कोशिश ही हमारी कविता की सबसे पहली कोशिश है।"[101] यहाँ मूल्य का प्रयोग उन्होंने अप्रासंगिक हो चुके मूल्यों के संदर्भ में किया है। इसका अर्थ मूल्यहीनता की वकालत कतई नहीं है। वे आगे लिखते हैं "मुझे राजनीति, अर्थचक्र और मशीनों की गति को बदलना है, कविता की ताकत से बदलना है। .....मैं अपने मनुष्य को परतंत्र बनाये रहने वाली शक्तियों को बदलना चाहता हूँ। मेरी कविता, मेरी मुक्ति के लिए हैं। अर्थात् मेरी कविता मुझे मुक्त करती है।

"अगर मेरी कविता मुझे मुक्त नहीं करती, तो उसे मैं मात्र एक वक्तव्य मानता हूँ, कविता नहीं मानता। और मेरी मुक्ति मेरे मनुष्य की मुक्ति है। मेरा कवि जिससे अलग, ऊपर या विच्छिन्न नहीं हैं। किसी भी परिस्थिति में नहीं। कविता मेरी उपलब्धि (अर्थात् मुक्ति) का प्रयास भी है और मेरी उपलब्धि भी है। मैं मनुष्य हूँ, और

मैंने अपनी मुक्ति के लिए अपनी कविता उपलब्ध की है।''[102] राजकमल जिस मुक्ति का बार–बार जिक्र करते हैं वह इस अमानवीय व्यवस्था से मुक्ति की आकांक्षा है संसार से मुक्ति की नहीं। अकविता का रचना–संसार इस मुक्ति के लिए विभिन्न रचनात्मक खतरे उठाता है। वह पारंपरिक वर्जनाओं एंव विधि–निषेधों की परवाह नहीं करता। शिल्प के प्रचलित चौखटे को तोड़ता है। वह अपना एक अलग काव्य–संसार रचता है जिसके तत्व हैं विघटन, अराजकता, कुरुपता, ध्वंस, आक्रामकता, नग्नता, विद्रोह, यौन–उन्मुक्तता, लय एवं संगीत का अभाव तथा जन–भाषा का प्रयोग। वह इन समस्त प्रक्रियाओं से गुजरते हुए लगातार अलग–थलग होने का खतरा उठाता है और होता भी है परन्तु व्यवस्था को नग्न करने के अपने उद्देश्य से विचलित नहीं होता। अकवियों के लिए कविता इस विसंगत, भयानक एवं अजनबी संसार में बिना किसी हिचक के सच बोलने, सुनने एवं उसके हिसाब से परिस्थितियों को समझने का प्रयास है। इस प्रक्रिया में वह प्रचलित कविता के यथार्थ–विच्छिन्न ढांचे को तोड़ता है और उसकी कृत्रिम रुढ़ियों पर प्रहार करता है। इस प्रक्रिया के जरिए अकविता ने यथार्थ की उस भावभूमि का विकास किया जिससे जुड़कर आगे जनवादी कविता का विकास हुआ।

प्रभाकर श्रोत्रिय ने अकविता की इस ऐतिहासिक भूमिका पर विचार करते हुए लिखा है ''रघुवंश का अंत जैसे अग्निवर्ण के झरोखे से लटकी विलासी और बेहूदा टांग से लिखा गया था वैसे ही नयी कविता के अंत का आलेख अकविता की कापालिक भाषा में लिखा गया। आदर्श और यथास्थिति का खात्मा शायद ऐसे ही अतिवादों के हाथों बदा हो। अगर नयी कविता की आवृत्तियों, रूढ़ियों और रुमानी ऐश्वर्य का वास्ता ऐसी नंगधड़ंग आक्रामकता से न पड़ता तो तल्ख सामाजिक यथार्थ की कविता इतनी जल्दी जन्म नहीं ले पाती। इसलिए इस उफान का ऐतिहासिक महत्व है।''[103]

संदर्भ–सूची

[1] मलयज, कविता से साक्षात्कार, संभावना प्रकाशन, हापुड़, 1979, पेज 166

[2] चंचल चौहान, जनवादी समीक्षा (नया चिंतन नये प्रयोग), पांडुलिपि प्रकाशन, दिल्ली 1979, पेज 181 पर उधृत

[3] शंभूनाथ, मिथक और आधुनिक कविता, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, 1985, पेज 378

[4] देवशंकर नवीन (सं.), राजकमल चौधरी, आडिट रिपोर्ट, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2006, पेज 25

[5] अजय तिवारी, समकालीन कविता और कुलीनतावाद, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1994, पेज 253

[6] धूमिल, संसद से सड़क तक, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2003, पेज 90–91

[7] आडिट रिपोर्ट, वही, पेज 264

[8] जगदीश चतुर्वेदी, इतिहासहंता, जगतराम एण्ड संस, नयी दिल्ली, अगस्त 1984, पेज 90–91

[9] समकालीन कविता और कुलीनतावाद, वही, पेज 254

[10] सौमित्र मोहन, लुकमान अली तथा अन्य कविताएँ, संभावना प्रकाशन, हापुड़, 1978, पेज 40

[11] देवशंकर नवीन (सं.), राजकमल चौधरी, बर्फ और सफेद कब्र पर एक फूल, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2006, पेज 358–59

[12] आडिट रिपोर्ट, वही, पेज 100

[13] जगदीश चतुर्वेदी (सं.), आधुनिक हिन्दी कविता, दि मैकमिलन कम्पनी आफ इण्डिया लिमिटेड, दिल्ली, 1975, में पेज 124 पर उधृत

[14] आडिट रिपोर्ट, वही, पेज 103

[15] अलेक्सान्द्र सेन्केविच, समकालीन हिन्दी साहित्य, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, दिसम्बर 1984, पेज़ 51

[16] आडिट रिपोर्ट, वही, पेज 63

[17] मोना गुलाटी, महाभिनिष्क्रमण, अस्ति प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1992, पेज 33

[18] आडिट रिपोर्ट, वही, पेज 261

[19] श्याम परमार, अकविता और कला सन्दर्भ, कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर, सितम्बर, 1968, पेज 21

[20] गंगा प्रसाद विमल, श्याम परमार, जगदीश चतुर्वेदी, विजप, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1967, पृ. 104

[21] विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, मंजुल उपाध्याय (सं.), समकालीन कविता की भूमिका, दी मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड, नयी दिल्ली, 1976, पेज 31

[22] आडिट रिपोर्ट, वही, पेज 132–133

[23] लीलाधर जगूड़ी, नाटक जारी है, अक्षर प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली, मार्च 1972, पृ. 46

[24] जनवादी समीक्षा (नया चिंतन नये प्रयोग), वही, पेज 182

[25] महाभिनिष्क्रमण, वही, पेज 36

[26] इतिहासहंता, वही, पेज 17

[27] महाभिनिष्क्रमण, पेज 40

[28] जगदीश नारायण श्रीवास्तव, समकालीन कविता पर एक बहस, चित्रलेखा प्रकाशन, इलाहाबाद, जून 1978, पेज 86

[29] जगदीश चतुर्वेदी, मेरे संस्मरण मेरे साक्षात्कार, श्री नटराज प्रकाशन, दिल्ली, 2003, पेज 197

[30] शंभूनाथ, दूसरे नवजागरण की ओर, ज्ञानभारती, दिल्ली, 1993, पेज 88

[31] समकालीन कविता की भूमिका, वही, पेज 57

[32] The Indian journal of Political Science, Vol. 55, No. 4, Oct.-Dec. 1994, page 402

[33] संसद से सड़क तक, वही, पेज 104

[34] इतिहासहंता, वही, पेज 96

[35] धूमिल, सुदामा पाड़े का प्रजातंत्र, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2001, पेज 21

[36] बर्फ और सफेद कब्र पर एक फूल, वही, पेज 358

[37] संसद से सड़क तक, वही, पेज 127

[38] नाटक जारी है, वही, पेज 10

[39] वही, पेज 48–49

[40] लुकमान अली तथा अन्य कविताएँ, वही, पेज 97

[41] मुरली मनोहर प्रसाद सिंह, आधुनिक हिन्दी साहित्यः विवाद और विवेचना स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, 2000, पेज 90

[42] संसद से सड़क तक, वही, पेज 105

[43] नाटक जारी है, वही, पेज 67

[44] संसद से सड़क तक, वही, पेज 44

[45] आडिट रिपोर्ट, वही, पेज 277

[46] वही, पेज 79–80

[47] वही, पेज 130–31

[48] नामवर सिंह, वाद विवाद संवाद, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली 2003 में पेज 124 पर उधृत

[49] इतिहासहंता, वही, पेज 73

[50] सुवास कुमार, आधुनिक हिन्दी कविता आत्मनिर्वासन तथा अकेलेपन का सन्दर्भ, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली–वाराणसी, 1989 में पेज 265 पर उधृत।

[51] शंभूनाथ, मिथक और आधुनिक कविता, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, 1985, पेज 373

[52] नाटक जारी है, वही, पेज 74

[53] आधुनिक हिन्दी कविता आत्मनिर्वासन तथा अकेलेपन का संदर्भ, वही, पेज 264

[54] ललित शुक्ल, नया काव्य नये मूल्य, दि मैकमिलन कम्पनी आफ इण्डिया लिमिटेड, दिल्ली, 1975 में पेज 264 पर उद्धृत

[55] आधुनिक हिन्दी कविता आत्मनिर्वासन तथा अकेलेपन का संदर्भ, वही, पेज 265 पर उद्धृत

[56] नया काव्य नये मूल्य, वही, पेज 265 पर उद्धृत

[57] महाभिनिष्क्रमण, वही, पेज 25

[58] समकालीन कविता की भूमिका, वही, पेज 66–67 पर उधृत

[59] महाभिनिष्क्रमण, वही, पेज 34

[60] समकालीन कविता की भूमिका, वही, पेज 64

[61] संसद से सड़क तक, वही, पेज 31

[62] नाटक जारी है, वही, पेज 59

[63] वही, पेज 40

[64] वाद विवाद संवाद, वही, पेज 125

[65] नाटक जारी है, वही, पेज 47

[66] बर्फ और सफेद कब्र पर एक फूल, वही, पेज 122

[67] संसद से सड़क तक, वही, पेज 33

[68] समकालीन कविता की भूमिका, वही, पेज 13

[69] आडिट रिपोर्ट, वही, पेज 152–153

[70] लक्ष्मीकांत वर्मा, नये प्रतिमान पुराने निकष, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1994, पेज 52

[71] संसद से सड़क तक, वही, पेज 28

[72] बर्फ और सफेद कब्र पर एक फूल, वही, पेज 280

[73] See, Judy Cox, An Introduction to Marx's theory of Alienation, www. ipi.org.uk, pp. 1-17

[74] ibid

[75] ibid

[76] लुकमान अली तथा अन्य कविताएँ, वही, पेज 51

[77] सुदामा पाड़े का प्रजातन्त्र, वही, पेज 23

[78] लुकमान अली तथा अन्य कविताएँ, वही, पेज 78

[79] आडिट रिपोर्ट, वही, पेज 33

[80] लुकमान अली तथा अन्य कविताएँ, वही, पेज 64

[81] आडिट रिपोर्ट, वही, पेज 158

[82] वही, पेज 179

[83] See, Fritz Pappenheim, Alienation in American society, Monthly review, vol. 52, No. 2, www.monthelyreview.org, pp. 1-19

[84] नाटक जारी है, वही, पेज 63

[85] लुकमान अली तथा अन्य कविताएँ, वही, पेज 56

[86] वही, पेज 37

[87] जगदीश चतुर्वेदी, अनुभूति चतुर्वेदी (सं.), जगदीश चतुर्वेदी रचनावली, खण्ड छः–आलोचना, नमन प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2002, पेज 28

[88] आडिट रिपोर्ट, वही, पेज 251

[89] समकालीन कविता की भूमिका, वही, पेज 162

[90] अकविता और कला संदर्भ, वही, पेज 31

[91] संसद से सड़क तक, वही, पेज 62

[92] विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, समकालीन सिद्धान्त और साहित्य, दि मैकमिलन कम्पनी आफ इण्डिया लिमिटेड, नयी दिल्ली, 1976, पेज 153

[93] शिवप्रसाद सिंह, आधुनिक परिवेश और नवलेखन, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रकाशन वर्ष का उल्लेख नहीं, पेज 112

[94] संसद से सड़क तक, वही, पेज 84–85

[95] अकविता और कला संदर्भ, वही, पेज 30

[96] आडिट रिपोर्ट, वही, पेज 196

[97] लुकमान अली तथा अन्य कविताएँ, वही, पेज 17

[98] इंडिया टुडे, साहित्य वार्षिकी, 1995, पेज 33

[99] सुदामा पांड़े का प्रजातंत्र, वही, पेज 28

[100] अकविता और कला संदर्भ, वही, पेज 13

[101] बर्फ और सफेद कब्र पर एक फूल, वही, पेज 121

[102] वही, पेज 121

[103] कमल किशोर गोयनका (सं.), जगदीश चतुर्वेदीः विवादास्पद रचनाकार, पल्लवी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1985, पेज 310

उपसंहार

स्वतंत्रता से लोगों में बड़ी–बड़ी आशाओं का संचार हुआ था। सुखी एवं सुरक्षित जीवन से जुड़े सपने नेहरु युग की नीतियों की विफलता के परिणामस्वरुप भंग हो गए। इसके फलस्वरुप निराशा तो फैली है परंतु उससे अधिक आक्रोश का निर्माण हुआ। इस आक्रोश के फलस्वरुप बहुसंख्यक लोगों में प्रचलित व्यवस्था एवं विचारधारा के खिलाफ एक नकार का भाव पैदा हो गया। समय एवं समाज में प्रचलित चीजों से अपने आप को अलग कर लेने की प्रवृत्ति जन्मी। प्रचलित मान्यताओं से अपने को अलग करके व्यवस्था के खिलाफ आक्रामक एवं निषेधवादी प्रवृत्ति अपनाना साठोत्तरी परिवेश की सबसे उल्लेखनीय विशेषता थी। अकविता का जन्म इसी आक्रामकता एवं निषेध की प्रवृत्ति के साथ हुआ।

भारतीय समाज की आन्तरिक प्रक्रियाओं के दबाव की उसके उदय में प्रमुख भूमिका तो थी ही, परंतु साहित्यिक रूप से उसने अपनी प्रेरणा अमरीका की बीट पीढी के लेखन से प्राप्त की। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के अमरीकी समाज में व्याप्त अंतर्विरोधों के बीच से बीट काव्य आंदोलन ने जन्म लिया था। ये अंतर्विरोध थे अतिशय वैज्ञानिकता, चरम बुद्धिवाद, कोरिया संकट, शीतयुद्ध की अनिश्चितता, पूंजीवादी–उपभोक्तावाद का बढ़ता जाल, अमानवीयता एवं मूल्यहीनता, बाजारवाद, संस्कृति का अर्थ–केन्द्रित हो जाना, परम्परागत रुढ़ियों का फैलाव आदि। इन सबको व्यक्त करने में तत्कालीन अमरीकी काव्य की विफलता ने बीट पीढ़ी का मार्ग प्रशस्त किया। बीट पीढ़ी के लेखकों ने समाज के द्वारा बनाए गए अच्छे या बुरे की कोटियों से अलग हटकर समाज को निष्पक्ष एवं मुक्त ढंग से देखने की वकालत की। उन्होंने कविता को अकादमिक प्रतिमानों से निकालकर सामान्य जीवनचर्या से जोड़ा। इस प्रक्रिया में उनकी भाषा अश्लीलता की तरफ मुड़ गयी, परंतु उनके अनुसार ये अश्लीलता कविता या कवि की नहीं उस व्यवस्था की अश्लीलता थी जिसमें वह लिख रहे थे। उन्होंने अपनी कविताओं में संभोग, जनेंद्रिय, ड्रग्स एवं अप्राकृतिक सेक्स का खुलकर उल्लेख क़िया। ऐसा वे जानबूझकर बहरे कानों को सुनाने के लिए धमाके के रूप में कर रहे थे। सेक्स उनके लिये अन्य सामाजिक गतिविधियों की तरह की एक सामान्य गतिविधि थी, कोई दुराव या छिपाव की चीज नहीं। चूँकि वे सभी सामाजिक प्रक्रियाओं को नये ढंग से समझना एवं समझाना चाहते थे फलतः सेक्स पर भी उन्होंने स्पष्ट रुप से लिखा। इन कवियों ने अभिव्यक्ति की रचनात्मक ईमानदारी का प्रयोग सदैव किया,

जो जैसा था उसे स्पष्ट रूप से दर्शाया। अकविता पर बीट पीढी की इन विशेषताओं का गंभीर एवं स्थायी प्रभाव पड़ा। बीट पीढी के प्रमुख रचनाकार एलेन गिंसबर्ग एवं जेक कैरुआक भारत भी आए थे तथा कुछ की अकविता के कवियों से व्यक्तिगत मित्रता भी थी।

अकविता में अराजकता एवं नकार की जो प्रवृत्ति मिलती है यह एक अखिल भारतीय प्रवृत्ति थी जो उस समय की बंग्ला, असमिया, मराठी, पंजाबी, उर्दू एवं बंगाली भाषाओं की कविताओं में भी देखने को मिलती है। स्पष्ट है कि व्यवस्था से मोहभंग सम्पूर्ण भारत को हुआ था।

बंग्ला की भूखी पीढ़ी (हंग्री जेनरेशन) के कवियों से अकविता के कुछ कवियों के व्यक्तिगत सम्बन्ध थे। बंग्ला कविता ने भी हिंदी की अकविता को प्रभावित किया था। भूखी पीढी के कवियों की कविताओं में पायी जाने वाली एलिएनेशेन, अजनबीपन, कुंठा, संत्रास, मृत्युबोध एवं अप्राकृतिक सेक्स से सम्बधित प्रवृत्तियाँ अकविता में भी देखने को मिलती हैं। सेक्स सम्बन्धी अराजक वक्तव्य भूखी पीढी के कवियों में अकविता से ज्यादा खुले रूप में मिलते हैं। यही कारण है कि उनकी कविताओं को जहाँ पश्चिम बंगाल में प्रतिबंधित कर दिया गया था वहीं हिंदी क्षेत्र में अकविता के विरुद्ध उस प्रकार की कोई कानूनी कार्यवाही नहीं हुई। भूखी पीढ़ी के कवि खुद को सामाजिक मानदण्डों के हिसाब से नहीं परखते अपितु स्वयं को बनाए गए मानदण्डों पर समाज को कसते हैं। विचारधारा विरोध तथा चरम वैयक्तिकता का सामान्य तत्व अकविता एवं भूखी पीढी दोनों में है। भूखी पीढी के कवि रचना की मूल्यांकन निरपेक्षता का नारा देते हैं। उनके अनुसार रचना अच्छी है या बुरी उससे ज्यादा महत्वपूर्ण यह है कि रचनाकार ने जो महसूस किया है उसे ठीक उसी तरह स्पष्ट रूप से लिखा है कि नहीं। चूँकि समीक्षक, रचनाकार नहीं होता फलतः वह उन परिस्थितियों को समझ नहीं सकता फलतः उसे समीक्षा करने का न तो कोई हक है न उसकी कोई उपयोगिता या विश्वसनीयता, ऐसा उनका मानना है। जिन प्रतिमानों के आधार पर वह रचना में प्रविष्ट होगा वह उसके अपने होंगे फलतः वह उसके साथ न्याय नहीं कर पायेगा।

अकविता हिन्दी साहित्य में कोई एकाएक पैदा हुई प्रवृत्ति नहीं है बल्कि इसकी एक परम्परा थी। आधुनिक काल के बीसवीं सदी के तीसरे एवं चौथे दशक में पाण्डे बेचन शर्मा 'उग्र' एवं निराला की रचनाएँ इसका स्पष्ट प्रमाण हैं। यौन उन्मुक्तता की प्रवृत्ति भी इस दौरान नरोत्तम नागर द्वारा लिखित उपन्यास 'शुतरमुर्ग पुराण' तथा

उनके द्वारा संपादित तथा लीडर प्रेस प्रयाग से प्रकाशित पत्रिका 'उच्छृंखल' में देखने को मिलती रही है।

'छायावाद' की यथार्थ–विच्छिन्न एवं अभिजात्य कुलशील कविता के बाद प्रगतिवाद की यथार्थ सम्पन्न जन–कविता का हिन्दी में प्रादुर्भाव होता है। परंतु कुछ ही सालों बाद यह यथार्थ प्रियता प्रयोगवाद के परिवेश में धुंधली पड़ जाती है। कविता जन–जीवन के व्यापक संघर्ष से निकलकर वैयक्तिकता के चिंतनरत द्वीपों में उलझती जाती है, उसका सहज–सौंदर्य बोध कृत्रिमता की तरफ अग्रसर होने लगता है। सामाजिक परिस्थितियों तथा समस्याओं से किसी सार्थक वैचारिक संघर्ष से मुँह मोड़कर कविता व्यक्तिगत स्वप्नों के जाल बुनने लगती है। आजादी मिलती है, देश में व्यवस्था बदलती है पर आम आदमी के जीवन में कोई खास–सुधार नहीं होता। इस परिवेश में प्रयोगवाद का आभामण्डल जब टूटता है तो जन जीवन से कट चुका कवि नयी कविता में 'लघुता' की खाल ओढ़ कर दुबक जाता है। संधर्ष के लिए जिस जमीनी आधार तथा विकल्प के लिए जिस आत्मसंघर्ष की जरुरत होती है उससे तो वह बहुत पहले कट चुका है फलतः अब उसके बौने अहं को विवश होकर हाथ फैलाने तथा क्षितिज के पार के संसार की यूटोपियन कल्पना के अलावा कोई अन्य उपाय नहीं सूझता।

अकविता नयी कविता के इस रोमांटिक भावबोध, लघुता–बोध, अप्रासंगिक एवं अनुपयुक्त रागात्मकता के ऐश्वर्य तथा लिजलिजी संवेदनाओं के जाल को छिन्न भिन्न कर देती है। वह उस मूल्यहीन समय एवं समाज में उत्पन्न अन्तरालों को संबोधित करने के लिए एक खास तरह का काव्य–संसार रचती है। अकविता का सम्पूर्ण रचना संसार व्यवस्था से मोहभंग की उपज है। उसकी प्रमुख विशेषता है परंपरा का नकार, हर क्षेत्र हर तरह की परंपरा का नकार। इस प्रक्रिया में वह प्रचलित संस्कृति पर खुलकर वार करती है। उसका मानना है कि हमारी सम्पूर्ण संस्कृति गंभीर रूप से बीमार एवं 'आउटडेटेड' हो चुकी है फलतः स्वाभाविक प्रक्रिया के तहत उसको जाना होगा। परंपरा एवं संस्कृति से इस अलगाव तथा उसके विकल्प में किसी सार्थक स्वरुप एवं चिंतन के अभाव में अकविता का काव्य संसार अराजकता की तरफ मुड़ जाता है जहाँ सभी चीजों को तोड़ने–फोड़ने में, समाप्त करने में अकवि को सुख मिलता है।

अकविता में लोकतंत्र–विरोध की प्रवृत्ति भी स्पष्ट रूप से पायी जाती है। लोकतांत्रिक व्यवस्था में व्याप्त अंतर्विरोधों को ये कवि खुलकर उभारते हैं। वे दिखाते हैं कि लोकतंत्र किस प्रकार सामान्य जनता से कटकर सिर्फ अभिजात्य के हितों को साधने

का तंत्र हो गया है। उसके जरिए किसी सकारात्मक सुधार एवं जनहित के लिए किए जाने वाले कार्यों की उम्मीद अकवि को नहीं है। परंतु आखिर उसका विकल्प क्या है? अकविता इस पूरे प्रकरण पर मौन है।

अकविता में यौन–विद्रोह काफी बड़ी मात्रा में मिलता है। इसका कारण है पूंजीवादी–उपभोक्तावादी संस्कृति के फलस्वरुप बढ़ते शहरीकरण की प्रक्रिया के कारण पैदा हुआ एलिएनेशन, व्यवस्था में सही जगह न पा पाने की निराशा तथा मुख्यधारा की भौतिक सुख–सुविधाओं को न पा पाने की मध्यवर्गीय कुंठा। इसके फलस्वरूप कवि का मानसिक जगत असंतुलित हो जाता है और इसके विरेचन के लिए वह सेक्स का मानसिक आनंद उठाता है। सामाजिक असंतुलन एवं अमानवीयता उसे यौन सम्बधों में रुग्ण बना देती है, फलतः वह अप्राकृतिक सेक्स क्रियाओं की तरफ मुड़ता है। इसका एक दूसरा पक्ष भी है। यहाँ पर 'स्त्री' एक व्यवस्था के रूप में आती है। स्त्री की यौन शुचिता पारंपरिक व्यवस्था का सबसे मज़बूत गढ़ रही है। अनैतिक एवं अश्लील यौन बिम्बों के प्रयोग द्वारा ये कवि एक तरफ जहाँ परंपरागत नैतिकता के मॉडल पर प्रहार करते है वहीं दूसरी तरफ उस प्रक्रिया द्वारा व्यवस्था को हास्यास्पदता की हद तक ले जाकर उसे अपमानित करते हैं। अकविता की कुछ महिला रचनाकारों की रचनाओं में सेक्स को नारीवादी नजरिए से भी देखा गया है। उस प्रक्रिया में वे सेक्स पर खुली चर्चा द्वारा पितृसत्तात्मक समाज की 'यौनिकता' की अवधारणा पर खुला प्रहार करती हैं। परंतु यह भी सच है कि स्त्रीमुक्ति या यौनमुक्ति सम्बन्धी किसी स्पष्ट अवधारणा का यहाँ अभाव है।

अलगाव बोध भी अकविता की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। अकविता में यह अलगाव मानसिक एवं भौतिक दोनों प्रकार के पर्यावरणों से है। व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं सामाजिक तीनों प्रकार के सम्बधों में अलगाव का विषाणु फैल गया है। अकविता में मूल्यहीन सम्बधों की चिंता तो है परंतु न तो उसके कारणों से टकराहट है न सम्बधों को सुधारने की कोशिश। नतीजा यह होता है कि अकवि इससे घबराकर, व्यथित होकर एकाकी संसार में पलायन कर जाता है। परंतु यह पलायन एक व्यक्तिगत बीमारी न होकर एक सामाजिक बीमारी का लक्षण है।

अकविता सामान्य एवं प्रचलित काव्य प्रयोगों से इतर अपना एक अलग काव्यशास्त्र रचती है। जिसमें अनौपचारिक काव्य भंगिमाओं तथा लोक प्रचलित बोलचाल के शब्दों के दिग्दर्शन होते हैं। विशेषण–विशेष्य, लाक्षणिकता, उपचार वक्रता शब्दसाधना,

कांट–छांट, अलंकार, रस एवं छन्द के बंधनो को तोड़कर कविता सहजता एवं सपाटबयानी की ओर अग्रसर होती है। अकविता मूलतः अरुचि की प्रतिक्रिया है इसलिए वह प्रचलित एवं अप्रासंगिक हो चुके काव्य–मूल्यों से सतत विद्रोह की कविता है। उसके लिए कविता बाधामुक्त होकर वर्जनाओं एवं विधि–निषेधों की परवाह किए बिना स्वतंत्र होकर संचरण करने का प्रयास है। अकविता किसी प्रकार का निष्कर्ष नहीं देती वह पाठक को निष्कर्ष हीन, अधूरी, अर्थहीन स्थितियों में छोड़ देती है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया द्वारा अकविता नयी कविता के रुमानी भावबोध को तोड़कर यथार्थ की उस जमीन पर संचरण करती है, जहाँ से परवर्ती जनवादी (प्रतिबद्ध) कविता का विकास होता है। अकविता विकल्प तो नहीं देती परंतु व्यवस्था को नष्ट–भ्रष्ट करने की प्रक्रिया द्वारा आगे आने वाले विकल्प का मार्ग निरापद अवश्य करती है। यह इसका ऐतिहासिक योगदान है जिससे इंकार नहीं किया जा सकता।

संदर्भ ग्रंथ सूची

आधार ग्रन्थ :

1. गंगा प्रसाद विमल, जगदीश चतुर्वेदी, श्याम परमार, **विजप,** राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली 1967
2. जगदीश चतुर्वेदी, **इतिहासहंता,** जगतराम एण्ड संस, नयी दिल्ली, अगस्त 1984
3. देवशंकर नवीन (सं.), राजकमल चौधरी, **आडिट रिपोर्ट,** वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2006
4. धूमिल, **संसद से सड़क तक,** राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2003
5. धूमिल, **सुदामा पाड़े का प्रजातन्त्र,** वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2001
6. धूमिल, **कल सुनना मुझे,** वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2003
7. मोना गुलाटी, **महाभिनिष्क्रमण,** अस्ति प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1992
8. लीलाधर जगूड़ी, **नाटक जारी है,** अक्षर प्रकाशन प्राईवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली, मार्च 1972
9. सौमित्र मोहन, **लुकमान अली तथा अन्य कविताएँ,** संभावना प्रकाशन हापुड़, 1978

सहायक ग्रन्थ (हिन्दी) :

1. अजय तिवारी, **समकालीन कविता और कुलीनतावाद,** राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1994
2. अलेक्सान्द्र सेन्केविच, **समकालीन हिन्दी साहित्य,** प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, दिसम्बर, 1984
3. अशोक वाजपेयी (सं.) , **कविता का जनपद,** राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1992
4. अशोक वाजपेयी (सं), **तीसरा साक्ष्य,** संभावना प्रकाशन, हापुड़, 1979
5. अशोक वाजपेयी, **कवि कह गया है,** भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, 2000 (पे.बै.)

6. अशोक वाजपेयी, **फिलहाल,** राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1970

7. अजेय (सं.), **दूसरा सप्तक,** भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, 2002 (पे.बै.)

8. अजेय (सं.), **तीसरा सप्तक,** भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, 2003 (पे.बै.)

9. ओमप्रकाश अवस्थी, **नयी कविता के बाद,** पुस्तक संस्थान, कानपुर, 1974

10. केदारनाथ अग्रवाल; **समय समय पर,** परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, 1970

11. केदारनाथ सिंह, **मेरे समय के शब्द,** राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1993

12. कमल किशोर गोयनका (सं.), जगदीश चतुर्वेदी, **विवादास्पद रचनाकार,** पल्लवी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1985

13. कैलाश वाजपेयी, **आधुनिकता का उत्तरोत्तर,** सारांश प्रकाशन, दिल्ली, 1999

14. कृष्णदत्त पालीवाल, **सृजन की नयी भूमिका,** ज्ञान गंगा प्रकाशन, दिल्ली, 1997

15. गंगा प्रसाद विमल, **आधुनिकताः साहित्य के संदर्भ में,** दि मैकमिलन कम्पनी आफ इण्डिया लिमिटेड, नयी दिल्ली, 1978

16. गुरचरण सिंह, **समकालीन कविता के सरोकार,** नवलोक प्रकाशन, दिल्ली, 2000

17. गिरिजाकुमार माथुर, **नयी कविता सीमाएँ और सम्भावनाएँ,** नेशनल पालिशिंग हाउस, दिल्ली, 1993

18. चंचल चौहान, **जनवादी समीक्षा नया चिंतन नये प्रयोग,** पांडुलिपि प्रकाशन, दिल्ली, 1979

19. चंद्रकांत बांदिवडेकर, **कविता की तलाश,** विभूति प्रकाशन, दिल्ली, 1983

20. जगदीश चतुर्वेदी, अनुभूति चतुर्वेदी, (सं), **जगदीश चतुर्वेदी रचनावली (खण्ड–छः–आलोचना),** नमन प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2002

21. जगदीश चतुर्वेदी, **मेरे संस्मरण मेरे साक्षात्कार,** श्री नटराजन प्रकाशन, दिल्ली, 2003

22. जगदीश चतुर्वेदी (सं.), **आधुनिक हिन्दी कविता,** दि मैकमिलन कम्पनी आफ इण्डिया लिमिटेड, दिल्ली, 1975

23. जगदीश चतुर्वेदी (सं.), **निषेध,** ज्ञानभारती प्रकाशन, दिल्ली, 1972

24. जगदीश नारायण श्रीवास्तव, **समकालीन कविता पर एक बहस,** चित्रलेखा प्रकाशन, इलाहबाद, जून 1978

25. देवशंकर नवीन (सं.), राजकमल चौधरी, **शवयात्रा के बाद देह शुद्धि,** अभिरुचि प्रकाशन, दिल्ली, 2000

26. देवशंकर नवीन (सं.), राजकमल चौधरी, **बर्फ़ और सफेद कब्र पर एक फूल,** वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2006

27. धर्मवीर भारती, **पश्यन्ती,** भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, 2003

28. नंदकिशोर नवल, **समकालीन काव्य यात्रा,** राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2004

29. नामवर सिंह, **वाद विवाद संवाद,** राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2003

30. नरेंद्र मोहन, **विचार और लहू के बीच : हिंदी की लम्बी कविताएँ,** अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, 1983

31. नरेंद्र सिंह, **साठोत्तरी हिंदी कविता में जनवादी चेतना,** वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1990

32. परमानंद श्रीवास्तव, **समकालीन कविता का यथार्थ,** हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़, 1988

33. परमानंद श्रीवास्तव, **समकालीन कविता का व्याकरण,** शुभदा प्रकाशन, दिल्ली, 1980

34. परमानंद श्रीवास्तव (सं.), **समकालीन हिंदी कविता,** साहित्य अकादमी, दिल्ली, 1990

35. बच्चन सिंह, **आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास,** लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद, 1999, (पे.बै.)

36. बलदेव वंशी, **लम्बी कविताएँ वैचारिक सरोकार,** जयश्री प्रकाशन, दिल्ली, 1983

37. बली सिंह, **कविता की समकालीनता,** शंकर पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 2005

38. भारतभूषण अग्रवाल, **कवि की दृष्टि,** दि मैकमिलन कम्पनी आफ इण्डिया लिमिटेड, नयी दिल्ली, 1978

39. मंजुल उपाध्याय (सं.), **अथातो काव्य जिज्ञासा,** वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1996

40. मणिका मोहिनी, **कटघरे में,** वैचारिकी संकलन, दिल्ली, 1993

41. मैनेजर पाण्डेय, **मेरे साक्षात्कार,** किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1998

42. मनोज सोनकर, **सत्तरोत्तर हिंदी कविता संवेदना शिल्प और कवि,** प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, 1994

43. मुरली मनोहर प्रसाद सिंह, **आधुनिक हिंदी साहित्य : विवाद और विवेचना,** स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, 2000

44. मलयज, **कविता से साक्षात्कार,** संभावना प्रकाशन, हापुड़, 1979

45. योगेंद्र शाही, **अस्तित्ववाद किर्कगार्द से कामू तक,** ग्रंथलोक, दिल्ली, 2003

46. युद्धवीर धवन, **समकालीन लम्बी कविता की पहचान,** संजीव प्रकाशन, कुरुक्षेत्र, 1987

47. यश गुलाटी, **कविता और संघर्ष चेतना,** इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली, 1980

48. राजकुमार, **हिंदी साहित्य का चौथा दशक मूल्यों का संक्रमण और संघर्ष,** ग्रंथलोक प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2006

49. रामविलास शर्मा, **निराला की साहित्य साधना (भाग–दो),** राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2002 (पे.बै.)

50. रामस्वरुप चतुर्वेदी, **कविता यात्रा,** दि मैकमिलन कम्पनी आफ इण्डिया लिमिटेड, दिल्ली, 1976

51. रमेश कुंतल मेघ, **क्योंकि समय भी एक शब्द है,** लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद, 1975

52. रमेश चंद्र शाह, **वागर्थ,** संभावना प्रकाशन, हापुड़, 1981

53. रश्मि रमानी, **अकविता संदर्भ और जगदीश चतुर्वेदी की कविताएँ,** अनुराग प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1994

54. रोहिताश्व, **समकालीन कविता (1960–80) मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में,** प्रभा प्रकाशन, इलाहाबाद, 1986

55. लाल बाबू श्रीवास्तव, **आधुनिक हिंदी और बंग्ला कविता (सन् 1935 से 1960 तक)**, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, 1985

56. ललित शुक्ल, **नया काव्य नये मूल्य**, दि मैकमिलन कम्पनी आफ इण्डिया लिमिटेड, नयी दिल्ली, 1994

57. लीलाधर मंडलोई (सं.), **कविता के सौ बरस**, शिल्पायन, दिल्ली, 2001

58. लक्ष्मीकांत वर्मा, **नये प्रतिमान पुराने निकष**, लोकभारती प्रकाशन; इलाहाबाद, 1996

59. विपिन कुमार अग्रवाल, **आधुनिकता के पहलू**, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1972

60. विपिन चंद्र, मृदुला मुखर्जी, आदित्य मुखर्जी, **आजादी के बाद का भारत**, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, फरवरी 2002

61. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, **आठवें दशक की हिंदी कविता**, कीर्ति प्रकाशन, गोरखपुर, 1982

62. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, **रचना के सरोकार**, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1987

63. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, **समकालीन हिंदी कविता**, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1982

64. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, मंजुल उपाध्याय (सं.), **समकालीन कविता की भूमिका**, दि मैकमिलन कम्पनी आफ इण्डिया लिमिटेड, नयी दिल्ली, 1976

65. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, **समकालीन सिद्धांत और साहित्य**, दि मैकमिलन कम्पनी आफ इण्डिया लिमिटेड, नयी दिल्ली, 1976

66. सुखबीर सिंह, **कविता का वैचारिक वर्तमान**, जयश्री प्रकाशन, दिल्ली, 1982

67. सुखबीर सिंह, **कविता के नये सीमान्त**, पराग प्रकाशन, दिल्ली, 1993

68. सतीश जमानी (सं), **समकालीन हिंदी आलोचना**, नई कहानी प्रकाशन, इलाहाबाद, 1979

69. सुधीश पचौरी, **नयी कविता का वैचारिक आधार**, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1987

70. समीक्षा ठाकुर (सं.), नामवर सिंह, **कहना न होगा,** राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1994

71. स्वदेश भारती (सं.), **साम्प्रतिक हिंदी साहित्य रचना और आलोचना, खण्ड–एक,** रुपाम्बरा प्रकाशन, कलकत्ता 1981

72. सुवास कुमार, **आधुनिक हिंदी कविता आत्मनिर्वासन और अकेलेपन का संदर्भ,** भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली–वाराणसी, 1989

73. सुषमा भटनागर, **आधुनिक हिंदी साहित्य वेदना के नये आयाम,** पांडुलिपि प्रकाशन, दिल्ली, 1977

74. शंभूनाथ, **दूसरे नवजागरण की ओर,** ज्ञान भारती, दिल्ली 1993

75. शंभूनाथ, **मिथक और आधुनिक कविता,** नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, 1985

76. शमशेर बहादुर सिंह, **चुका भी हूँ मैं नहीं,** राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली 1981

77. श्याम परमार, **अकविता और कला संदर्भ,** कृष्णा ब्रदर्स अजमेर, सितम्बर 1968

78. शिवप्रसाद सिंह, **आधुनिक परिवेश और नवलेखन,** लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रकाशन वर्ष का उल्लेख नहीं

79. हुकुमचंद राजपाल, **समकालीन कविता में मानव मूल्य,** शारदा प्रकाशन, दिल्ली 1993

सहायक ग्रंथ (अंग्रेजी) :

1. Biplab Chakraborti, **Pessimism and Contemporary Bengali Literature,** FIRMA, KLM Private Limited, Calcutta, 1985
2. Christopher Macgowan, **Twentieth Century American Literature Poetry,** Blackwell Publishing Ltd. USA, UK, Australia, 2004
3. George Plimpton (ed.), **Beat writers at work,** The Paris Review, The Modern library New York, 1999 (PB)
4. Harold Beaver, **The Great American Masquerade,** vision and Barnes & Noble Books, London- Totowa, 1985
5. Hellen Vendler (ed.), **The Anthology of contemporary American poetry,** I.B. Tauris, London, New York, 2003

6. Jay Parini (ed.), **The Columbia History of American Poetry,** Columbia University Press, New York 1993
7. J.D. McClathdry (ed.), **The Vintage Book of contemporary American Poetry,** Vintage Book, A Division of Random House INC, New York, March 2003
8. Josephine G. Hendin, **A Concise companion to postwar American literature and culture,** Blackwell Publishing ltd. USA, UK, Australia, 2004
9. Laszlo Gefin, **Idiogram: Modern American Poetry,** The open university press, Milton Keynes, England, 1982
10. Malay Roy Choudhary, **Selected poems,** A writers workshop, Red Bird, 1989
11. Marcus Cunliffe (ed.), **The Penguin History of American literature since-1900,** Pengiun Books, 1993
12. **Modern American literature, (The series of Forum Lectures broadcast by The voice of America in 1961),** For the printing with the permission of Forum editor, United States information agency, Washington D.C.,1973
13. Prabal Kumar Basu (ed.), **Signposts: Bengali Poetry since independence**, Rupa & co. New Delhi, 2002
14. Richard Gray, **A History of American literature,** Blackwell publishing ltd USA, UK, Australia, 2004
15. Ron D.K. Banerjee (Translator), **Poetry From Bengal The Delta Rising: An Anthology of modern Bengali Poetry,** Forest Books, Unesco, London, Boston, 1989
16. Sibnarayan Ray (ed.), **I have seen Bengal's face,** editors Indian, Calcutta, 1974
17. Sukumar Ghose (ed.), **Contemporary Bengali literature Poetry,** Acedimic Publishers, Calcutta, Publication year not mentioned.
18. Suresh Chandra dwivedi, **Twenteith century American Poetry,** Kitab Mahal, New Delhi, 1985

पत्र–पत्रिकाएँ (हिंदी) :

1. आलोचना, जुलाई–सितम्बर, 1968
2. आलोचना, अप्रैल–जून, 1971
3. आलोचना, अप्रैल–जून, 1972
4. आलोचना, अक्तूबर–दिसम्बर, 1972
5. आलोचना, अप्रैल–जून, 1975
6. आलोचना, जुलाई–सितम्बर, 1968
7. आलोचना, अक्तूबर–दिसम्बर, 1985
8. इंडिया टुडे, साहित्य वार्षिकी, 1995
9. कृति परिचय (अकवितांक), जून 1967
10. धर्मयुग, 3 अप्रैल, 1966
11. धर्मयुग, 29 मई, 1966
12. धर्मयुग, 5 फरवरी 1967
13. धर्मयुग, 21 अप्रैल, 1968
14. धर्मयुग, 28 अप्रैल, 1968
15. नया पथ (स्वाधीनता विशेषांक), अंक 24–25, जुलाई–सितम्बर, 1997
16. पूर्वग्रह, अंक 14–15, मई–अगस्त, 1976
17. पूर्वग्रह, अंक 22–23, सितम्बर–दिसम्बर, 1977
18. पहल 58, अप्रैल–जून, 1998
19. माध्यम, जनवरी–मार्च, 2001
20. राष्ट्रवाणी, सितम्बर–अक्तूबर, 1968
21. ज्ञानोदय, सितम्बर, 1962
22. ज्ञानोदय, जून, 1967

पत्र–पत्रिकाएँ (अंग्रेजी) :

1. **The Indian Journal of Political science,** vol. 55, No. 4, October-December, 1994

इंटरनेट से प्राप्त सामग्री :

1. Fritz Paappenheim, **Alienation in American society,** Monthly review, volume 52, No. 2, www.monthelyreview.org, p.p.1-19
2. Judy Cox, **An Introduction to Marx's theory of Alienation,** www.ipi.org.uk,